वार्षिक रु. ६०.०० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ४६ अंक २ फरवरी २००८

रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ. ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

फरवरी २००८

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४६
अंक २

वार्षिक ६०/- एक प्रति ८/-

५ वर्षों के लिए – रु. २७५/-

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/- ; ५ वर्षों के लिए – रु. ४००/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट — **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४६ फरवरी २००८ अंक २

वैराग्य-शतकम्

हिंसाशून्यमयत्नलभ्यमशनं धात्रा मरुत्कल्पितं
व्यालानां पशवस्तृणाङ्कुरभुजस्तुष्टाः स्थलीशायिनः ।
संसारार्णवलङ्घनक्षमधियां वृत्तिः कृता सा नृणां
तामन्वेषयतां प्रयान्ति सततं सर्वे समाप्तिं गुणाः ।।१७।।

अन्वय – धात्रा, व्यालानां हिंसाशून्यम् अयत्न-लभ्यम् अशनं मरुत्-कल्पितम्, तृण-अङ्कुर-भुजः स्थली-शायिनः तुष्टाः पशवः, संसार-अर्णव-लङ्घन-क्षम-धियां नृणां सा वृत्तिः कृता । तां सततं अन्वेषयतां सर्वे गुणाः समाप्तिं प्रयान्ति ।

अर्थ – ईश्वर के विधान से हिंसक सर्पों के लिये भी हिंसारहित भोजन के रूप में सहज लभ्य वायु का निर्माण हुआ है, पशुओं को घास-पात से पेट भरने तथा धरती पर सोने में ही सन्तुष्ट बनाया है; संसार-सागर को पार करने में समर्थ बुद्धिमान् मनुष्य के लिये भी उन्होंने वैसी ही (हिंसारहित) आजीविका की व्यवस्था की है; और जो लोग निरन्तर उनके इस नियम का पालन करते हैं, उनके (संसार में आवागमन के कारण रूप सत्त्व, रजस् तथा तमस् आदि) सारे गुणों का नाश हो जाता है ।

गङ्गातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य ।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः
कण्डूयन्ते जरठहरिणाः स्वाङ्गमङ्गे मदीये ।।१८।।

अन्वय – गङ्गातीरे हिम-गिरि-शिला-बद्ध-पद्म-आसनस्य ब्रह्म-ध्यान-अभ्यसन-विधिना योग-निद्रां मम तैः सुदिवसैः भाव्यं किं ? यत्र ते जरठ-हरिणाः निर्विशङ्काः मदीये अङ्गे स्व-अङ्गं कण्डूयन्ते ?

अर्थ – अहो, मेरे जीवन में क्या ऐसे शुभ दिन भी आयेंगे, जब मैं हिमालय पर्वत के शिलाखण्ड पर पद्मासन में बैठकर ब्रह्म के इतने गम्भीर ध्यान में डूब जाऊँगा कि बूढ़े हिरण निर्भयतापूर्वक मेरे समीप आकर मेरे पाषाण के समान अचल शरीर से अपने शरीर को रगड़ेंगे !

– भर्तृहरि

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(जयन्ती-तोड़ी या मारुविहाग–कहरवा)

ठाकुर, सुन लो मेरी पुकार ।
जनम जनम का दास तुम्हारा,
अब कर दो उद्धार ।। ठाकुर.।

यह मन चंचल धावत पल-पल,
करत प्रपंच विविध, छल कौशल ।
नहि मानत समझाकर मैं तो,
हार्‌यो अगणित बार ।। ठाकुर.।

भवसागर अति अगम अपारा,
भरा हुआ जल विषमय खारा ।
पार करो मम जीवन-नौका,
धर तुम ही पतवार ।। ठाकुर.।

आखिर थक आया शरणागत,
करुणा से वंचित करना मत ।
कृपादृष्टि से तुम्हीं उठा लो,
अब 'विदेह' का भार ।। ठाकुर.।

– २ –

(यमन–कहरवा)

परमहंस श्रीरामकृष्ण, हे भव-भंजनकारी,
दिव्य-रूप, जग आलोकित कर, माया तम हारी ।।

अस्ति-भाति-प्रिय, चिन्मय सुन्दर, नर-कायाधारी,
सुधासिन्धु शुभ-शान्ति विधायक, षड्रिपु-संहारी ।।

पतितोद्धार किये तुमने बहु, भय संकट हारी,
गाती महिमा सदा तुम्हारी, यह दुनिया सारी ।।

हम अज्ञानी दीन पथिक, भव-बोझ बहुत भारी,
निज पथ पर 'विदेह' ले जाओ, हे जन-हितकारी ।।

भारत का इतिहास, संस्कृति तथा आदर्श

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

यदि पृथ्वी पर ऐसा कोई देश है, जिसे हम धन्य पुण्य-भूमि कह सकते हैं, ... यदि ऐसा कोई देश है, जहाँ मानव जाति की क्षमा, धैर्य, दया, शुद्धता आदि सद्वृत्तियों का सर्वाधिक विकास हुआ है और यदि ऐसा कोई देश है जहाँ आध्यात्मिकता तथा सर्वाधिक आत्मान्वेषण का विकास हुआ है, तो वह भूमि भारत ही है।[१]

राजनीतिक महानता या सामरिक शक्ति की प्राप्ति करना न कभी भारत का जीवनोद्देश्य रहा है, न अब है; और याद रखो ऐसा भविष्य में भी कभी नहीं होगा।[२]

हम जानते हैं कि हिन्दू जाति ने कभी धन को महत्त्व नहीं दिया। धन उन्हें खूब मिला – दूसरे राष्ट्रों से कहीं अधिक धन मिला, पर हिन्दू जाति ने धन को कभी जीवन का उद्देश्य नहीं माना। भारत युगों तक शक्तिशाली बना रहा, तो भी शक्ति उसका उद्देश्य नहीं बनी, उसने अपनी शक्ति का उपयोग कभी अपने देश के बाहर किसी पर विजय प्राप्त करने में नहीं किया। वह अपनी सीमाओं से सन्तुष्ट रहा, इसलिये कभी-भी किसी से युद्ध करने नहीं गया, उसने कभी भी साम्राज्यवादी गौरव को महत्त्व नहीं दिया। धन और शक्ति कभी भी इस देश के आदर्श न बने सके।[३]

हाँ, मेरे बन्धुओ, यही हमारे देश का गौरवमय भाग्य है कि सुदूर अतीत में, उपनिषदों के काल में ही हमने संसार के समक्ष एक चुनौती रखी थी – **न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः** – ''न तो सन्तानों द्वारा और न ही सम्पत्ति के द्वारा, बल्कि केवल त्याग द्वारा ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है।'' एक-एक कर कई राष्ट्रों ने इस चुनौती को स्वीकार किया और अपनी शक्ति भर संसार की इस पहेली को कामनाओं के स्तर पर सुलझाने का प्रयत्न किया। वे सभी अतीत काल में असफल रहे – पुराने राष्ट्र शक्ति तथा धन की लोलुपता से उत्पन्न होनेवाले पापाचार और दुःखों के बोझ से दबकर मिट गये, और नयी राष्ट्र डगमगाते कदमों से पतन की ओर बढ़ रहे हैं। इस प्रश्न का हल होना अभी भी बाकी है कि शान्ति की जय होगी या युद्ध की, सहिष्णुता की विजय होगी या असहिष्णुता की, भलाई की विजय होगी या बुराई की, शरीर की विजय होगी या बुद्धि की, सांसारिकता की विजय होगी या आध्यात्मिकता की। हमने तो युगों पहले ही इस प्रश्न का हल ढूँढ़ लिया था और सौभाग्य या दुर्भाग्य के बीच हम अपने उसी समाधान पर दृढ़तापूर्वक डटे हैं और चिर काल तक उसी पर अटल रहने को कृतसंकल्प हैं। हमारा समाधान है – असांसारिकता – त्याग।

मानव जाति का आध्यात्मीकरण – यही भारतीय जीवन-रचना का प्रतिपाद्य विषय है, यही उसके अनन्त संगीत का मूल सुर है, यही उसके अस्तित्व का मेरुदण्ड है, यही उसके जीवन की आधारशिला है और उसके अस्तित्व का एकमात्र हेतु है। चाहे तातारों का शासन रहा हो या तुर्कों का, चाहे मुगलों ने राज्य किया हो या अंग्रेजों ने, परन्तु अपने इस सुदीर्घ जीवन-प्रवाह में भारत कभी भी अपने इस मार्ग से विचलित नहीं हुआ है।[४]

पूर्व की नारियों का पश्चिमी मानदण्ड से मूल्यांकन करना उचित नहीं। पश्चिम में नारी पत्नी है, पूर्व में वह माँ है। हिन्दू मातृ-भाव को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, यहाँ तक कि संन्यासियों को भी अपनी माँ के सामने मस्तक को भूमि पर टेकना पड़ता है। पातिव्रत्य का यहाँ बहुत सम्मान है।[५]

भारत में माँ ही परिवार का केन्द्र और हमारा सर्वोच्च आदर्श है। वह हमारे लिये ईश्वर की प्रतिनिधि है, क्योंकि ईश्वर ब्रह्माण्ड की माँ हैं। एक नारी ऋषि ने ही सबसे पहले ईश्वर की एकता की अनुभूति की और यह सिद्धान्त वेदों की प्रारम्भिक ऋचाओं में व्यक्त किया। ... जो प्रार्थना के द्वारा जन्म पाता है, वही आर्य है; और जिसका जन्म कामुकता से होता है, वह अनार्य है।... भारत में यह बात इतनी गम्भीरता -पूर्वक मान्य हो गई है कि वहाँ यदि विवाह की परिणति प्रार्थना में न हो, तो हम विवाह में भी व्यभिचार की बात कहते हैं।... यही – सतीत्व ही हमारी जाति का रहस्य है।[६]

संस्कृत भाषा में ... दो महाकाव्य अत्यन्त प्राचीन हैं। ... इन दोनों में प्राचीन आर्यावर्त की सभ्यता और संस्कृति, तत्कालीन आचार-विचार एवं सामाजिक अवस्था लिपिबद्ध है। इन महाकाव्यों में प्राचीनतर 'रामायण' है, जिसमें राम के जीवन की कथा निरूपित हुई है। ... राम और सीता भारतीय राष्ट्र के आदर्श हैं। सभी बालक-बालिकाएँ, विशेषतः

कुमारियाँ सीता की पूजा करती हैं। भारतीय नारी की उच्चतम महत्त्वाकांक्षा यही होती है कि वह सीता के सामान शुद्ध, पतिपरायणा और सर्वसहा बने।[७]

महाभारत शब्द का अर्थ है – महान् भारत देश, अथवा भरत के महान् वंशजों का आख्यान। ... यह महाकाव्य भारत में सर्वाधिक लोकप्रिय है, और इसका भारतीय जीवन पर उतना ही प्रभाव पड़ा है, जितना की यूनान देश पर होमर-प्रणीत काव्य का। ... धर्मभीरु किन्तु वृद्ध, अन्ध और निर्बल धृतराष्ट्र के हृदय में चलनेवाला पुत्र-प्रेम और कर्तव्य का द्वन्द्व; पितामह भीष्म का उदात्त और उन्नत चरित्र, महाराज युधिष्ठिर का उदार तथा धार्मिक स्वभाव; और उनके चारों बन्धुओं का उन्नत चरित्र, स्वामी-निष्ठा और अप्रतिम वीरता; मानवीय ज्ञान की चरम सीमा प्राप्त श्रीकृष्ण का अद्वितीय व्यक्तित्व; और महासती तपस्विनी रानी गान्धारी, पुत्रवत्सला कुन्ती, पतिपरायणा और सर्वसहिष्णु द्रौपदी आदि नारियों के चरित्र – जो पुरुषों से किसी भाँति कम नहीं हैं – तथा इस महाग्रन्थ और रामायण के अन्य असंख्य चरित्र-नायक विगत हजारों वर्षों से समस्त हिन्दू जाति की यत्न-संचित राष्ट्रीय सम्पत्ति रहे हैं और उसके विचारों एवं कर्तव्य-अकर्तव्य तथा नीति-सम्बन्धी सिद्धान्तों की आधारशिला हैं। वस्तुत: रामायण और महाभारत प्राचीन आर्य-जीवन और ज्ञान के दो ऐसे विश्वकोष हैं, जिनमें एक ऐसी उन्नत सभ्यता का चित्र खींचा गया है, जो मानव जाति को अब भी प्राप्त करनी है।[८]

इन चरित्रों का अध्ययन करने पर तुमको सहज ही बोध होने लगता है कि भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों में कितना महान् अन्तर है। ... पश्चिम कहता है – "कर्म करो – कर्म द्वारा अपनी शक्ति दिखाओ।" भारत कहता है – "सहनशीलता द्वारा अपनी शक्ति दिखाओ।" पश्चिम ने इस समस्या का समाधान किया है कि मनुष्य कितनी अधिक वस्तुओं का स्वामी बन सकता है; परन्तु इस प्रश्न का उत्तर भारत ने दिया है कि मनुष्य कितने अल्प में जीवनयापन कर सकता है।[९]

विश्व सभ्यता को भारत का अवदान

संसार हमारे देश का अत्यन्त ऋणी है।[१०]

जब मैं अपने देश के प्राचीन इतिहास का सिंहावलोकन करता हूँ, तो सम्पूर्ण विश्व में मुझे ऐसा कोई भी देश नहीं दिखता, जिसने मानवीय हृदय को उन्नत और सुसंस्कृत बनाने में भारत के समान चेष्टा की हो। इसलिये, न तो मैं अपनी हिन्दू जाति को दोषी ठहराता हूँ और न इसकी निन्दा करता हूँ। मैं तो कहता हूँ – तुमने जो कुछ किया है, अच्छा किया है; पर इससे भी अच्छा करने की चेष्टा करो।'[११]

हम हिन्दू तुम्हारे (ईसाई) धर्म की प्राचीनता स्वीकार करने को तैयार हैं; वैसे हमारा धर्म उस समय से करीब तीन सौ वर्ष पूर्व अस्तित्व में आ चुका था, जबकि तुम्हारे धर्म की कल्पना भी नहीं हुई थी। यही बात विज्ञानों के विषय में भी सत्य है। प्राचीन काल में भारत ने सर्वप्रथम चिकित्सा-वैज्ञानिक उत्पन्न किये थे और सर विलियम हंटर के मतानुसार इसने विभिन्न रसायनों का पता लगाकर और तुम्हें विरूप कानों और नाकों को सुडौल बनाने की विधि (प्लास्टिक सर्जरी) सिखाकर आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी योग दिया है। गणित में तो उसने और भी अधिक योगदान किया है; क्योंकि बीजगणित, ज्यामिति, ज्योतिष तथा आधुनिक विज्ञान का गौरव – मिश्र गणित – इन सबका आविष्कार भारत में हुआ; यहाँ तक कि पूरी वर्तमान सभ्यता की मूल आधारशिला-स्वरूप वे दस अंक भी भारत में ही आविष्कृत हुए हैं और उन्हें सूचित करनेवाले शब्द भी वस्तुत: संस्कृत के हैं।

दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र में तो, जैसा कि महान् जर्मन दार्शनिक शापेनहॉवर ने स्वीकार किया है, हम अब भी दूसरे राष्ट्रों से बहुत ऊँचे हैं। संगीत में, भारत ने संसार को सात प्रधान स्वरों और उनके मापन-क्रम सहित अपनी वह अंकन-पद्धति प्रदान की है, जिनका आनन्द हम ईसा से लगभग तीन सौ पचास वर्ष पूर्व से ले रहे थे, जबकि यूरोप में वह ग्यारहवीं शताब्दी में ही पहुँच सकी। भाषा-विज्ञान में, अब हमारी संस्कृत भाषा सभी विद्वानों द्वारा सारी यूरोपीय भाषाओं की आधार के रूप में स्वीकार की जाती है, जो वस्तुत: संस्कृत के अपभ्रंशों के सिवा और कुछ नहीं हैं।

साहित्य में हमारे महाकाव्य, काव्य तथा नाटक किसी भी भाषा की ऐसी सर्वोच्च रचनाओं के समकक्ष हैं। जर्मनी के महानतम कवि ने शकुंतला के सार का उल्लेख करते हुए कहा है कि यह 'स्वर्ग और धरा का सम्मिलन है।' भारत ने संसार को ईसप की कथाएँ दी हैं। ईसप ने इन्हें एक पुरानी संस्कृत पुस्तक से लिया था। उसने 'सहस्र-रजनी-चरित' (Arabian Nights) दिया है और हाँ, सिन्ड्रैला और बीन स्टाक्स की कहानियाँ भी वहीं (भारत) से आयी हैं। वस्तुओं के उत्पादन में, भारत ने ही सर्वप्रथम रूई तथा बैगनी रंग बनाया। वह रत्नों से सम्बन्धित सभी कलाओं में कुशल था और 'शुगर' शब्द तथा उसके द्वारा निर्दिष्ट वस्तु भी भारतीय उत्पादन हैं। अन्त में, उसने शतरंज, ताश और चौपड़ के खेलों का आविष्कार भी किया है। वस्तुत: सभी बातों में भारत की उच्चता इतनी अधिक थी कि यूरोप की भुक्खड़ टोलियाँ उसकी ओर आकृष्ट हुईं, जिसके फलस्वरूप परोक्ष रूप से अमेरिका का भी आविष्कार हुआ।[१२]

मैं चुनौती देता हूँ कि कोई भी व्यक्ति भारत के राष्ट्रीय जीवन का कोई भी ऐसा काल मुझे दिखा दे, जिसमें यहाँ सम्पूर्ण विश्व को हिला देने की क्षमता रखनेवाले आध्यात्मिक महापुरुषों का अभाव रहा हो। पर भारत का कार्य आध्यात्मिक

है। और यह कार्य रण-भेरी के निनाद से या सैन्यदलों के अभियानों से तो पूरा नहीं किया जा सकता। धरती पर भारत का प्रभाव सर्वदा मृदुल ओस-कणों की भाँति नीरव तथा अव्यक्त रूप से बरसा है, तथापि इस प्रकार वह सर्वदा धरती के सुन्दरतम पुष्पों को विकसित करता रहा है।[१३]

भारतीय जीवन में धर्म का स्थान

हमारी इस पवित्र मातृभूमि का मेरुदण्ड, आधार-भित्ति या जीवन-केन्द्र एकमात्र धर्म ही है। दूसरे लोग भले ही राजनीति को, व्यापार के बल पर अगाध धनराशि अर्जित करने के गौरव को, वाणिज्य-नीति की शक्ति तथा उसके प्रचार को, अथवा बाह्य स्वाधीनता प्राप्ति के अपूर्व सुख को महत्त्व दें, परन्तु हिन्दू अपने मन में, न तो इनके महत्त्व को मानते हैं और न मानना चाहते हैं। हिन्दुओं के साथ धर्म, ईश्वर, आत्मा, अनन्त और मुक्ति के सम्बन्ध में बातें कीजिये; मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, यहाँ का एक साधारण कृषक भी इन विषयों में अन्य देशों के दार्शनिक कहे जानेवाले व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक जानकारी रखता है। ... संसार को सिखाने के लिये अब भी हमारे पास कुछ है। इसीलिये सैकड़ों वर्षों के अत्याचार और करीब हजार वर्षों के विदेशी शासन तथा शोषण के बावजूद यह देश जीवित है। इस देश के अब भी जीवित रहने का मुख्य प्रयोजन यह है कि इसने अब भी ईश्वर और धर्म तथा अध्यात्म रूप रत्नकोश का परित्याग नहीं किया है।[१४]

प्राच्य और पाश्चात्य राष्ट्रों में घूमकर मुझे दुनिया का कुछ अनुभव प्राप्त हुआ है और मैंने सर्वत्र सब देशों का कोई-न-कोई ऐसा आदर्श देखा है, जिसे उस देश का मेरुदण्ड कह सकते हैं। कहीं राजनीति, कहीं समाज-संस्कृति, कहीं मानसिक उन्नति, और इसी प्रकार कुछ-न-कुछ प्रत्येक के मेरुदण्ड का काम करता है। परन्तु हमारी मातृभूमि भारतवर्ष का मेरुदण्ड धर्म – केवल धर्म ही है। धर्म ही के आधार पर, उसी की नींव पर, हमारे राष्ट्रीय जीवन का प्रासाद खड़ा है।[१५]

रोम की ओर देखो। रोम का ध्येय था साम्राज्य-लिप्सा – शक्ति-विस्तार। और ज्योंही उस पर आघात हुआ, त्योंही रोम छिन्न-भिन्न हो गया, विनष्ट हो गया। यूनान की प्रेरणा थी – बुद्धि। ज्योंही उस पर आघात हुआ, त्योंही यूनान समाप्त हो गया। वर्तमान युग में स्पेन आदि वर्तमान देशों का भी यही हाल हुआ है। प्रत्येक राष्ट्र का विश्व के लिये एक ध्येय होता है; और जब तक वह ध्येय आक्रान्त नहीं होता, तब तक असंख्य संकटों के बीच भी वह राष्ट्र जीवित रहता है, पर ज्योंही वह ध्येय नष्ट हुआ, त्योंही वह राष्ट्र ढह जाता है।

भारत की वह प्राण-शक्ति अब भी आक्रान्त नहीं हुई है। भारतवासियों ने उसका त्याग नहीं किया है और अन्धविश्वासों के बावजूद वह आज भी सबल है। यहाँ भयानक अन्धविश्वास हैं और उनमें से कुछ तो अत्यन्त जघन्य तथा घृणास्पद हैं, परन्तु उनकी चिन्ता मत करो; क्योंकि हमारी राष्ट्रीय जीवन-धारा – हमारा राष्ट्रीय ध्येय अभी भी जीवित है। ...

भारत, मृत्यु की भाँति दृढ़तापूर्वक ईश्वर, केवल ईश्वर से चिपका हुआ है, इसीलिये उसके लिये अभी भी आशा है।[१६]

हिन्दू का खाना धार्मिक, पीना धार्मिक, सोना धार्मिक, उसकी चाल-ढाल धार्मिक, विवाह आदि धार्मिक, और यहाँ तक कि उसकी चोरी करने की प्रेरणा भी धार्मिक होती है। ... इसका एक ही कारण है और वह यह कि इस देश की प्राणशक्ति – इसका ध्येय धर्म है; और चूँकि धर्म पर आघात नहीं हुआ, इसीलिये यह देश अभी तक जीवित है।[१७]

अन्य सभी विषयों को अपने जीवन के इस मूल उद्देश्य के अधीन करना होगा। संगीत में भी सुर-सामंजस्य का यही नियम है। मूल सुर के अनुगत होने से संगीत में ठीक लय आती है। यहाँ भी वही करना होगा। ऐसा भी कोई राष्ट्र हो सकता है, जिसका मूलमंत्र राजनीतिक प्रबलता हो, निश्चय ही धर्म और अन्य सभी विषय उसके जीवन के प्रमुख मूलमंत्र के नीचे दब जायेंगे, पर यहाँ एक ऐसा राष्ट्र है, जिसका प्रधान जीवनोद्देश्य धर्म और वैराग्य है। हिन्दुओं का एकमात्र मूलमंत्र है – यह जगत् क्षणभंगुर और दो दिनों की भ्रान्ति मात्र है।[१८]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१. विवेकानन्द साहित्य, (संस्करण १९८९) खण्ड ५, पृ. ५; **२**. वही, खण्ड ५, पृ. ९; **३**. वही, खण्ड १०, पृ. ४; **४**. वही, खण्ड ९, पृ. २९९-३००; **५**. वही, खण्ड १०, पृ. २६३; **६**. वही, खण्ड १०, पृ. ३०२-०३; **७**. वही, खण्ड ७, पृ. १३२, १४४; **८**. वही, खण्ड ७, पृ. १४८, १६८; **९**. वही, खण्ड ७, पृ. १४४; **१०**. वही, खण्ड ५, पृ. ५; **११**. वही, खण्ड ५, पृ. ९१-९२; **१२**. वही, खण्ड १०, पृ. २८४-८५; **१३**. वही, खण्ड ९, पृ. ३००; **१४**. वही, खण्ड ५, पृ. ४४-४५; **१५**. वही, खण्ड ५, पृ. ७४; **१६**. वही, खण्ड १०, पृ. ४-५; **१७**. वही, खण्ड १०, पृ. ४; **१८**. वही, खण्ड ५, पृ. ४८-४९;

जीवन की सार्थकता

स्वामी आत्मानन्द

बहुधा हमारे मन में प्रश्न उठता है कि यह जीवन क्या है? मनुष्य सोचता है कि जिस दिन उसने जन्म लिया और जिस दिन मृत्यु के कराल गाल में समा जाएगा, इस बीच की अवधि का, जिसे हम 'जीवन' के नाम से पुकारते हैं, क्या कोई उद्देश्य है? अथवा क्या मानव-जीवन प्रवाह-पतित तिनके की नाईं है, जो पानी के थपेड़े खाता हुआ, निरुद्देश्य इधर-उधर अटकता-भटकता, एक दिन काल सागर में जाकर मिल जाता है? ये मानव-मन में उठनेवाले बुनियादी प्रश्न हैं, जिनका उत्तर मनुष्य चाहता है। यदि जीवन समझ में आये, तो जीवन का उद्देश्य भी समझ में आएगा, और जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति ही जीवन की सार्थकता होगी।

पियरे टेलार्ड डे शार्डा नामक फ्रेंच विद्वान् ने अपने The phenomenon of man नामक ग्रन्थ में मनुष्य के जीवन को समझने के लिए पशु और मनुष्य के अन्तर को समझना चाहा है। वे वैज्ञानिक थे, इसलिए वैज्ञानिक प्रणाली से वे पशु और मनुष्य के अन्तर को जानना चाहते थे। प्रयोगों से उन्होंने देखा कि जहाँ तक चमड़ी, रक्त, मेदा, हड्डी, माँस आदि का प्रश्न है, पशु और मनुष्य में कोई भेद नहीं है। पर उन्हें एक अन्तर यह दिखा कि मनुष्य के भेजे में कुछ जीवाणुकोष ऐसे हैं, जो सक्रिय हैं; जबकि पशु के भेजे में वे सक्रिय नहीं हैं। जानने की प्रक्रिया मनुष्य और पशु दोनों में समान है, पर मनुष्य के भेजे में जीवाणुकोष की सक्रियता के कारण मनुष्य और पशु में जो अन्तर पड़ता है, उसे उन्होंने यों व्यक्त किया है – "An animal knows and a man knows, but an animal does not know that he knows, while a man knows that he knows." – अर्थात् ''पशु भी जानता है और मनुष्य भी जानता है, पर पशु यह नहीं जानता कि वह जानता है, जबकि मनुष्य यह जानता है कि वह जानता है।''

तात्पर्य यह कि पशु को अपने ज्ञान का बोध नहीं होता, जबकि मनुष्य को अपने ज्ञान का बोध होता है, मनुष्य जानता है कि वह जान रहा है। इसलिए मनुष्य अपनी चित्तवृत्तियों को सुशृंखल बना ले सकता है और उनकी सार्थकता के सम्बन्ध में प्रश्न कर सकता है। शार्डा यह विश्लेषण करके अन्त में पशु और मनुष्य का अन्तर स्थापित करते हुए कहते हैं कि पशु कभी भी अपने आपसे यह नहीं पूछता कि मेरे जीवन का क्या प्रयोजन है, जबकि मनुष्य कभी-न-कभी अपने आपसे यह अवश्य पूछता है कि मेरे जीवन का क्या प्रयोजन है।

पशु और मनुष्य के इसी अन्तर को एक संस्कृत सुभाषित में प्रकारान्तर से रखते हुए कहा गया है –

आहारनिद्राभय मैथुनञ्च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
एको हि तेषां धर्मो विशेषः
तेनैव हीनाः पशुभिः समानाः ॥

– अर्थात् ''जहाँ तक भोजन, निद्रा, भय और प्रजनन की वृत्तियों का प्रश्न है, ये जैसे मनुष्य में है, वैसे ही पशु में भी। मनुष्य में एक 'धर्म' की वृत्ति अधिक होती है। मनुष्य यदि उससे हीन हो, तो यथार्थतः वह पशु के ही समान है।''

इस विवेचन से स्पष्ट है कि मनुष्य जीवन की विशेषता 'धर्म' में है। अब प्रश्न उठता है कि यह 'धर्म' क्या है? स्वामी विवेकानन्द की धर्म सम्बन्धी व्याख्या मननीय है। वे कहते हैं – "Religion is the manifestation of the divinity already in man." - अर्थात् ''मनुष्य में पहले से विद्यमान दिव्यत्व की अभिव्यक्ति को धर्म कहते हैं।'' स्वामीजी का एक दूसरा उद्धरण भी इस सन्दर्भ में विचारणीय है, जहाँ उन्होंने कहा है – "Each soul is potentially divine, the goal is to manifest this Divinity within, by controlling nature external and internal." – अर्थात् ''प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्तःप्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है।''

अब हम समझ पाएँगे कि जीवन को सार्थक कैसे किया जाय। हम जितनी मात्रा में अपने इस अन्तःस्थ दिव्यत्व या ब्रह्मभाव को अभिव्यक्त करने में समर्थ होंगे, हमारा जीवन उतनी ही मात्रा में सार्थक होगा। इसके लिए सबसे सक्षम उपाय है – दूसरों का दुःख-दर्द अनुभव कर उनके लिए जीने की चेष्टा करना। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे – 'जो अपने लिए जीता है, उसमें कोई विशेषता नहीं, क्योंकि पशु भी तो अपने लिए जीते हैं। वास्तव में वे ही जीवित हैं, जो दूसरों के लिए जीते हैं।' अतएव निष्कर्ष यह निकला कि जो जितनी मात्रा में दूसरों के लिए जीता है, उसका जीवन उतनी ही मात्रा में सार्थक होता है। ❖ **(क्रमशः)** ❖
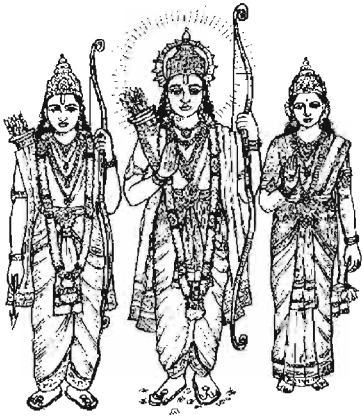
श्री हनुमत्-चरित्र (२/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. के अप्रैल-मई में रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के तत्त्वावधान में पण्डितजी के जो प्रवचन हुए थे, 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने।

जब ईश्वर श्रीराम के रूप में अवतार लेकर नर बना, तो भगवान शंकर ने वानर के रूप में जन्म लिया। वानर के रूप में जन्म लेने का विशेष तात्पर्य यह है कि एक तो वानर पशु है और दूसरे पशुओं में भी वानर में बहुत-से दोष होते हैं। पशुओं में कमियाँ हैं और यदि आप बन्दर को प्रत्यक्ष देखें, तो उसमें आपको ये दोष दिखेंगे कि वह बड़ा कामी होता है, बड़ा क्रोधी होता है और बड़ा लोभी भी होता है।

इसमें एक संकेत हैं। बन्दर में चंचलता होती है, कमियाँ होती हैं, दोष होते हैं; परन्तु ये दोष तथा कमियाँ तो मनुष्य में भी होती हैं। पशुत्व केवल पशुओं में ही नहीं, मनुष्यों में भी होता है। परन्तु मनुष्यों में निहित इस पशुता – उसकी इन दुर्बलताओं – का भी सदुपयोग हो सकता है। भगवान राम के चरित्र में इसका सूत्र मिलता है। क्या सूत्र मिलता है? भगवान सारे बन्दरों को लेकर लंका की ओर अभियान करते हैं और वहाँ रावण का वध होता है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि हम इन दुर्बलताओं को सही दिशा में लगा देते हैं, जब भगवान की कृपा से ये उनकी ओर मुड़ जाती हैं, उनके साथ जुड़ जाती हैं, तो ये दुर्बलताएँ भी महान् साधना का रूप धारण कर सकती हैं। मानो यही दिखाने हेतु भगवान शंकर अपनी ही इच्छा से वानर शरीर ग्रहण करते हैं।

एक ओर नर श्रीराम के रूप में भगवान विष्णु और दूसरी ओर वानर हनुमानजी के रूप में भगवान शंकर जन्म लेते हैं। शंकरजी जब हनुमान के रूप में अवतार लेते हैं, तो जन्म से ही उनके जीवन में आपको अद्भुत संकेत देखने को मिल जाते हैं। उन्हीं पर हम थोड़ी दृष्टि डालने की चेष्टा करेंगे।

हनुमानजी जन्म लेते हैं और तत्काल सूर्य को फल समझकर उसे खाने के लिये उछल पड़ते हैं। कहते हैं कि उनको सूर्य में फल का भ्रम हो गया। बड़ी अनोखी बात है ! सूर्य को देखकर हम लोगों को तो कभी उसमें फल का भ्रम नहीं होता। तो भगवान शंकर के अवतार हनुमानजी ही इतनी कमजोर बुद्धिवाले थे कि उनको भ्रम हो गया और वे सूर्य को फल समझ बैठे। यह भ्रम शब्द हम लोग अपनी बुद्धिमत्ता से कहते हैं। भ्रम उनको नहीं हुआ था। भ्रम हम लोगों को इसलिए लगता है कि हम समझते हैं कि फल तो वह है जो यहाँ वृक्षों में लटक रहे हैं। सूर्य भी भला कोई फल है?

इन साधारण फलों को खानेवाले तो संसार में अनगिनत लोग हैं, परन्तु हनुमानजी को सूर्य भी फल लगता है। वह सूर्य मानो प्रकाश है, ज्ञान है। शरीर की भूख मिटाने के लिए तो अन्न चाहिए, परन्तु हनुमानजी में तो प्रारम्भ से ही ज्ञान की – प्रकाश की भूख है। हमारे पुराणों की कथाएँ बड़ी संकेतों से भरी हुई हैं। जिस समय हनुमानजी सूर्य की ओर छलाँग लगाते हैं, उसी समय राहु भी सूर्य की ओर बढ़ रहा है। सूर्य-ग्रहण लगने ही वाला था। परन्तु राहु द्वारा सूर्य को ग्रसने के पहले ही हनुमानजी ने सूर्य को मुख में ले लिया। आप जानते हैं कि सूर्य कितना विशाल है और सोच लीजिये कि इतने विशाल सूर्य को अपने मुख में लेनेवाले का मुख कितना विशाल होगा?

हनुमानजी बड़े अनोखे हैं। कभी तो सूर्य को मुख में ले लेते हैं और कभी भगवान राम द्वारा दी हुई राम-नाम लिखी हुई मुद्रिका को डाल लेते हैं। आपको कोई मुद्रिका दे, तो आप उसे उँगली में पहन लेंगे, परन्तु हनुमानजी ने तो उसे मुँह में डाल लिया। हनुमानजी जैसे सूर्य को मुँह में डाल लेते हैं, वैसे ही मुद्रिका को भी मुँह में डाल लेते हैं। हनुमानजी द्वारा इन्हें मुख में डालने का तात्पर्य न समझनेवाले हम जैसों को लगता है कि हनुमानजी को भ्रम हो गया।

इसके बाद एक बड़ी सुन्दर बात आती है – राहु ने आश्चर्य से देखा कि यह तो ग्रहण का समय है और बीच में यह कौन आ गया? तब उसने हनुमानजी पर आक्रमण करने की चेष्टा की। हनुमानजी ने अपनी पूँछ के द्वारा राहु पर ऐसा प्रहार किया कि वह घायल होकर भागा और जाकर इन्द्र से कहा कि यह कौन-सा नया राहु आ गया है, जिसने सूर्य को मुख में ले लिया? इसके बाद इन्द्र ने राहु का पक्ष लेकर हनुमानजी पर वज्र से प्रहार किया।

यह बड़ी गहरी और बड़ी सूक्ष्म आध्यात्मिक कथा है। देवता और दैत्य आपस में विरोधी हैं। राहु दैत्य है और इन्द्र देवता है। देवता इन्द्र को भी लगता है कि यह कौन आ गया? और इसकी आध्यात्मिक कथा यह है कि जब कोई ज्ञान का फल पाना चाहता है, मोक्ष का फल पाना चाहता है, ऊँचाई पर जाना चाहता है, तो केवल दुर्गुण ही नहीं, सद्गुण भी उसका विरोध करते हैं।

रामायण में आप लोग ज्ञान-दीपक के प्रसंग में पढ़ते हैं कि जब कोई प्रकाश के लिए ज्ञान का दीपक जलाता है; तो उस समय काम, क्रोध, लोभ आदि तो बाधा उत्पन्न करते ही है, पर वहाँ एक अनोखी बात कही गई कि उसमें देवता भी बाधा उत्पन्न करते हैं। लिखा है – इन्द्रियों और उनके देवताओं को ज्ञान बिल्कुल नहीं सुहाता, क्योंकि उनकी सदा विषय-भोगों में ही प्रीति रहती है –

इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई ।
बिषय भोग पर प्रीति सदाई ।। ७/११८/१५

वैसे तो पुण्य और पाप परस्पर विरोधी हैं, परन्तु ज्ञान होने पर वह व्यक्ति को इन दोनों से ऊपर उठा देता है। इन्द्र का महत्त्व पुण्य की दृष्टि में ही है। ज्ञान की दृष्टि में इन्द्र का कोई महत्त्व नहीं। इसीलिए जब कोई उस प्रकाश की दिशा में ऊँचाई पर उठता है, तो लगता है कि पाप और पुण्य – दैत्य और देवता – दोनों उसका विरोध कर रहे हैं।

उसके बाद की कथा आप जानते हैं कि इन्द्र द्वारा हनुमानजी पर वज्र-प्रहार करने पर वायु देवता ने जब प्राण-वायु का अवरोध किया, तो सभी व्याकुल हो गये।

संसार में व्यक्ति ने जो मूल्य का तारतम्य बनाया है, वह वस्तु की उपयोगिता के आधार पर नहीं, बल्कि उसकी दुर्लभता के आधार पर बनाया है। हम लोगों की दृष्टि में वह वस्तु मूल्यवान नहीं होती, जो जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी है, आवश्यक है, अनिवार्य है, परन्तु सहजता से उपलब्ध है। रत्न बहुमूल्य होते हैं, स्वर्ण बहुमूल्य होता है, परन्तु अन्न का मूल्य उतना अधिक नहीं होता। यह गणित भी अच्छा किया! क्यों रत्नों का मूल्य बहुत अधिक और अन्न का मूल्य बहुत कम किया? गोस्वामीजी ने कहा – भगवान की बड़ी कृपा है कि लोगों ने हीरे को मूल्यवान माना, अन्न को कम मूल्यवान माना, नहीं तो बेचारे गरीब क्या करते? पर उसका व्यंग्य यह है कि हीरे के बिना तो हजारों-लाखों लोग जीवन भर रह लेते हैं, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, पर अन्न के बिना तो कोई रह ही नहीं सकता। हीरा कठिनाई से मिलता है, इसलिए दाम अधिक है और अन्न सरलता से मिलता है, तो उसका दाम कम है।

परन्तु अन्न से भी अधिक आवश्यक वस्तु जल है। अन्न के बिना भी आप कुछ दिन उपवास कर लीजिए, पर जल के बिना तो एक दिन रहना भी कठिन है, पर जल का मूल्य अन्न से भी कम है। फिर जल के बिना भी व्यक्ति कई घण्टे रह सकता है, परन्तु यदि वायु न मिले तो व्यक्ति एक क्षण भी जीवित नहीं रहेगा। पर वायु का मूल्य तो है ही नहीं। देखिए, कैसी बढ़िया हवा चल रही है, पर इसका कोई मूल्य है क्या? क्या इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति के जीवन में वायु का महत्त्व कम है और हीरों का महत्त्व अधिक है?

पवन देवता हनुमानजी के पिता हैं। वे इतने सुलभ हैं कि सबने सूर्य को महत्त्व दिया, राहु को महत्त्व दिया, पर वायु का महत्त्व भूल गये। वायुपुत्र के रूप में हनुमानजी कितने सुलभ हैं! उनमें सबके प्रति सेवाभाव की पराकाष्ठा है! पृथ्वी के द्वारा भी सेवा होती है, जल के द्वारा भी सेवा होती है, अग्नि के द्वारा भी सेवा होती है, पर वायु में जैसी सेवा-भावना है, वैसी किसी में नहीं है। सेवा-भावना का आदर्श यदि कोई देखना चाहे, तो पवन में देख ले। क्यों? उसका कोई मूल्य नहीं है। जिस सेवा का कोई मूल्य नहीं और जो चौबीसों घण्टे निरन्तर सर्वत्र सर्वदा चलती ही रहती है। फिर पृथ्वी तो हमें दिखाई देती है, जल और अग्नि को भी हम देख पाते हैं, पर वायु को हम देख भी नहीं पाते। वह स्वयं अपने आप को आगे नहीं लाता, बिना आगे लाये, बिना स्वयं को प्रदर्शित किये, सबकी सेवा कर रहा है।

गोस्वामीजी कभी-कभी शब्दों के द्वारा संकेत के रूप में बहुत बड़ी बात कह देते हैं। एक तो यह कहा कि जब बन्दर सीताजी की खोज में यात्रा कर रहे थे, तो उनमें अंगद सबसे आगे और हनुमानजी सबसे पीछे थे। लिखा है कि बन्दर जब भगवान राम के पास आते हैं, प्रणाम करते हैं, तब हनुमानजी सबसे पीछे आए। गोस्वामीजी ने शब्द बड़ा सुन्दर चुना। लिख सकते थे कि हनुमानजी ने पीछे से प्रणाम किया, पर लिखते हैं – पवनपुत्र ने सबसे पीछे प्रणाम किया –

पाछें पवनतनय सिरु नावा ।। ४/२३/९

पवन-तनय कहने का अभिप्राय क्या है? संसार में आगे रहने की, सामने रहने की होड़ लगी रहती है, परन्तु पवन का, वायु का एक नियम है। आप कहीं जा रहे हों और हवा यदि सामने की ओर से चल रही हो, तो आपको चलने में कठिनाई होगी। और हवा यदि पीछे से आ रही हो, तो आपकी गति बढ़ जायेगी। किसी ने कहा – "बन्दर सीताजी की खोज में जा रहे हैं, पर हनुमानजी पिछड़ गये।" गोस्वामीजी बोले – "नहीं, अभी वे हनुमान नहीं, अभी तो वे पवन के पुत्र हैं और पीछे रहकर बन्दरों को आगे ढकेल रहे हैं, गति दे रहे हैं।" इसीलिए वे पवन-तनय हैं।

वे आगे भी हो जाते हैं। आगे चलकर एक ऐसा अवसर आया, जब सभी स्वयंप्रभा की अँधेरी गुफा के सामने पहुँचे। बन्दर भूखे-प्यासे थे और यह भूख-प्यास व्यक्ति को कहाँ से कहाँ तक पहुँचा सकती है, इसकी कथाएँ बड़ी व्यापक और अनोखी हैं। प्रतापभानु, जो रावण बन गया, वह भी बेचारा भूखा-प्यासा जंगल में भटक गया था। वह कपट मुनि के पास गया और वहीं से उसका पतन हुआ। भूख-प्यास तो हम सभी को लगती ही है। और भूख-प्यास केवल शरीर की ही नहीं होती है। हमारे जीवन में मन की भी भूख-प्यास होती है और वह हमें प्रतापभानु की तरह भटका देती है।

प्रतापभानु धर्मात्मा तो था, पर वह उस मोह के वन में भटक गया। वह उस मोह के विपिन में कपट मुनि के द्वारा नीचे गिरा दिया जाता है। यहाँ भी सभी बन्दर भूखे-प्यासे हैं। अन्तर इतना ही था कि ये बन्दर भूखे-प्यासे तो थे, परन्तु अकेले नहीं थे; हनुमानजी उनके साथ थे। हनुमानजी ने देखा कि ये तो प्यास के मारे मर जाएँगे। उन्होंने बन्दरों से कहा – आइए, हम लोग ऊपर चढ़ें और ऊपर देखें; नीचे जल नहीं है, तो ऊपर जल होगा। इसका अर्थ यह है कि जब हमारे जीवन की प्यास हमें बेचैन बना दे, तो हमारा कर्तव्य है कि हम जरा ऊपर की ओर उठने की चेष्टा करें। बन्दरों ने कहा – हम तो थके हुए हैं। तब हनुमानजी स्वयं ऊपर जाते हैं और देखते हैं कि पर्वत में एक गुफा है। उस गुफा में बाहर से जल दिखाई तो नहीं दे रहा था, लेकिन जल के पक्षी उसके भीतर जा रहे थे। हनुमानजी बन्दरों को लेकर आते हैं और कहते हैं – "हम लोग इस गुफा में चलें। इसमें जल भले ही दिखाई न दे रहा हो, परन्तु जल के पक्षी हैं तो जल अवश्य होगा। अभी तक तो अंगद नेता थे, सबसे आगे थे और हनुमानजी सबसे पीछे थे। गुफा अँधेरी थी। अंगद ने कहा – "इस गुफा में आगे घुसने का साहस हममें नहीं है। हम तो आगे नहीं जाएँगे।" क्यों साहस नहीं हो रहा है? अंगद ने कहा – "हमारे तो पिता का जो विनाश हुआ, पिता और चाचा का जो झगड़ा हुआ, वह गुफा में पैठने को ही लेकर हुआ था। अब इस गुफा में जायँ, तो इसमें पता नहीं कौन-सा चक्कर हो !" तब हनुमानजी सामने आए और अब गोस्वामीजी ने उनको पवनतनय नहीं कहा। उन्होंने कहा – हनुमान को आगे करके चले –

आगें कै हनुमन्तहि लीन्हा ।। ४/२४/८

जब वे पीछे रहते हैं तो पवनतनय हैं और आगे चलते हैं तो हनुमन्त हैं। हनुमन्त का क्या अर्थ है? जब इन्द्र ने उन पर वज्र से प्रहार किया तो उनकी हनु अर्थात् ठोढ़ी से टकरा कर वज्र चूर-चूर हो गया। बन्दरों ने कहा – "महाराज, जब आपकी ठोढ़ी से वज्र भी चूर्ण हो सकता है, तो आप ही आगे-आगे चलिए। कोई संकट आ जाये, तो आप झेल लीजिएगा।" हनुमानजी सभी कुछ कर सकते हैं। आगे भी सह सकते हैं, पीछे भी सह सकते हैं, चाहे जैसे सहना पड़े, उनके अनगिनत रूप हैं, अनेक कार्य हैं, उनकी चर्चा तो अभी प्रारम्भ हुई है।

तो पवन-देवता ने जब एक क्षण के लिए प्राण-वायु का अवरोध कर दिया, तो वे मानो यह बताना चाहते थे कि जिसको तुम मेरे पुत्र के रूप में देख रहे हो, यह तुम्हारे जीवन के लिए आवश्यक है, इसके बिना तुम जी नहीं सकते। वास्तव में यदि हम गहराई से विचार करके देखें, तो भगवान राम के पूरे चरित्र में हुनमानजी के द्वारा जितने प्राणों की रक्षा हुई है, वैसी रक्षा अन्य किसी के द्वारा नहीं हुई। सुग्रीव की रक्षा, बन्दरों की प्राण-रक्षा, सीताजी के प्राणों की रक्षा, लक्ष्मणजी की प्राण-रक्षा, श्रीभरत की प्राण-रक्षा – सबके प्राणों की रक्षा ही तो पवन का कार्य है। यदि इसे और भी गम्भीरता से समझना चाहें, तो रामायण के जो पाँच पात्र हैं, ये ही रामायण के पंच प्राण हैं। और इन पाँचों प्राणों की रक्षा पवनपुत्र हनुमान के द्वारा ही होती है।

इसलिए जब लोगों को हनुमानजी की महिमा का ज्ञान और अपनी भूल का भान होता है, तब हनुमानजी का चरित्र प्रारम्भ होता है। जन्म से उन्होंने प्रकाश को ही ग्रहण किया और वस्तुत: उन्होंने सूर्य के प्रकाश को राहु के ग्रसने से बचा लिया। राहु अज्ञान है। अज्ञान कहीं ज्ञान को ग्रसकर अँधेरा न फैला दे, इसलिए हनुमानजी तो वस्तुत: ज्ञान के महान् रक्षक हैं, प्रकाश के महान् रक्षक हैं। और वे इतने विराट् हैं कि विशाल सूर्य को भी अपने मुख में धारण कर लेते हैं।

इस प्रकार हनुमानजी के चरित्र का प्रारम्भ हुआ और रामायण में जिस प्रसंग से वह प्रारम्भ हुआ, वह बड़ा ही सुन्दर और सांकेतिक है। सुग्रीव और हनुमानजी ऋष्यमूक पर्वत पर बैठे हुए हैं। इधर से भगवान राम और लक्ष्मणजी आते हुए दिखाई पड़े। सुग्रीव ने ज्योंही उन्हें देखा, तो डर के मारे काँपने लगा। हनुमानजी ने पूछा – क्या हुआ? सुग्रीव ने कहा – शाप के कारण बालि तो इस पर्वत पर नहीं आ सकता, परन्तु लगता है कि इन दोनों राजकुमारों को मुझे मारने के लिए भेजा है। बहुत गहरी संकेत भरी कथा है। सुग्रीव भगवान को देख तो रहे हैं, पर क्या उन्होंने भगवान को पहचाना। भगवान श्रीरामकृष्ण के वचनामृत में यह प्रसंग आता है। किसी ने उनसे पूछा कि क्या इन्हीं नेत्रों से भगवान दिखाई देते हैं? उन्होंने कहा – "नहीं, नहीं, वह जो समग्र भक्त है, उसका अंग प्रत्यंग प्रेममय हो जाता है और तब वह उस प्रेम की दृष्टि के द्वारा भगवान को देखता है।" कबीर ने भी अपनी भाषा में यही कहा। उनसे किसी ने पूछा – भगवान दिखाई क्यों नहीं देते? उन्होंने कहा – जिन आँखों से भगवान को देखा जाता है, वे यदि मुँद गई हैं, तो व्यक्ति भगवान को भला कैसे देख सकेगा –

जिन आँखिन से वाको लखिए, सो तो गई हैं मुँदाई ।
कैसे राम रूप लखि जाय ।।

पार्वतीजी ने शंकरजी से पूछा कि भगवान जब अवतार लेते हैं, तो सब लोग उनको देख क्यों नहीं पाते? इसके उत्तर में रामायण में लिखा हुआ है – जिन बेचारों का हृदय-रूपी दर्पण मैला है और जिनके पास आँखें नहीं हैं, जिनके पास दृष्टि नहीं है, वे भगवान का रूप भला कैसे देखें –

मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना ।
राम रूप देखहिं किमि दीना ।। १/११५/४

इसलिए भगवान को केवल चर्म-चक्षुओं से देखना ही यथेष्ट नहीं है। भगवान को देखने के लिए 'दृष्टि' भी चाहिए और वह दृष्टि सुग्रीव के पास नहीं थी।

रामायण में एक बड़ा मधुर प्रसंग आता है। जब धनुष टूट गया और जनकपुर से महाराज जनक का पत्र लेकर दूत अयोध्या आए, तो महाराज दशरथ ने उन्हें अपने पास बैठा लिया और उनसे उन्होंने जो प्रश्न किए, उसका आनन्द तो उस भाषा के ज्ञान के बिना नहीं आ सकता है, पर मैं आशा करता हूँ कि आप उसे संकेत से समझ लेंगे।

महाराज दशरथ ने दूतों से पूछा कि बताइए, क्या आप ने हमारे पुत्रों को देखा है? इस पर दूत लोग तो आश्चर्य से उनके मुख की ओर देखने लगे। – हम तो उन्हीं के पास से पत्र लेकर आ रहे हैं और ये पूछ रहे हैं कि हमने उनको देखा है या नहीं? अत: वे कुछ बोले नहीं। उनके मौन रह जाने पर दशरथजी ने दूसरा प्रश्न कर दिया – अच्छा, देखा है तो अपनी आँखों से देखा है क्या? अब यह भी कैसी विचित्र बात है? देखा है, जानने के बाद अब पूछ रहे हैं कि अपनी आँखों से देखा है या नहीं। दूत इस पर भी चुप रहे। दूतों ने सोचा कि अब उत्तर देने में उतना आनन्द नहीं है, जितना कि प्रश्न सुनने में है। जरा सुनें कि ये प्रश्न कहाँ तक जाते हैं। पहले तो उन्होंने पूछा – उन्हें देखा है? बड़ा आश्चर्य है, तो क्या बिना देखे ही पत्र लेकर चले आए? इसलिये वे कुछ बोले नहीं। जब उन्होंने पूछा – क्या तुमने अपनी आँखों से देखा? तो इस पर कोई भी तर्क करनेवाला कह सकता है कि जो देखता है, वह अपनी आँखों से ही तो देखता है ! पर दशरथजी को इतने से भी सन्तोष नहीं हुआ। कहने लगे – आप लोग यदि अपनी आँखों से देखने का दावा भी करते हो, तो हम आपसे पूछना चाहते हैं कि अच्छी तरह से देखा या नहीं? रामायण में जो चौपाई है, वह बड़ी आनन्ददायी है। दशरथजी का प्रश्न है – भैया, दोनों बच्चे कुशल से तो हैं? तुमने उन्हें अपनी आँखों से भलाभाँति देखा है न –

भैया कहहु कुसल दोउ बारे।
तुम नीकें निज नयन निहारे।। १/२९१/४

दूतों ने सोचा – अभी उत्तर नहीं देंगे, महाराज को और जो कुछ पूछना हो, पूछ लें। महाराज को लगने लगा कि शायद इन बेचारों ने देखा ही नहीं होगा। मानो इसीलिये वे बताने लगे कि उनका रूप-रंग ऐसा-ऐसा है। कहने लगे – मेरे जो दोनों पुत्र हैं, उनमें से एक का रंग श्याम है और दूसरा गोरा है। दोनों अपने हाथ में धनुष और बाण लिए रहते हैं। फिर भी दूत नहीं बोल रहे हैं। रूप-रंग बताने के बाद भी सन्देह है, अत: दशरथजी फिर कहने लगे – शायद आप लोगों ने उन्हें न देखा हो, परन्तु हमें इसलिए विश्वास नहीं होता, क्योंकि भले ही हमारे पुत्रों में कोई विलक्षणता न हो, मगर वे जिनके साथ हैं, वे तो संसार के प्रसिद्ध महात्मा विश्वामित्र हैं। इसलिये ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि आप लोगों ने विश्वामित्र के साथ उन बालकों को न देखा हो !

स्यामल गौर धरें धनु हाथा।
बय किसोर कौसिक मुनि साथा।।१/२९१/५

दूत मुस्करा रहे हैं, पर बोल नहीं रहे हैं। शायद कुछ और भी बोलें ! महाराज ने फिर प्रश्न किया – "अच्छा, उन्हें केवल देखे ही हो कि परिचय भी हुआ? देखा? अपनी आँख से देखा? भली प्रकार से देखा? ठीक है, पर परिचय हुआ या नहीं?" इस पर भी दूत चुप हैं। इसके बाद तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया – "आप यदि कह भी दे कि हाँ, हमने उनको देखा है, उन्हें पहचानते भी हैं, तो भी हम नहीं मानेंगे।" – कब तक नहीं मानेंगे? उन्होंने कहा – यदि आप उन्हें पहचानते हैं, तो आप उनका स्वभाव बताइए, केवल तभी हम समझेंगे कि आप लोगों का उनसे परिचय है –

पहिचानहु तुम्ह कहहु सुभाऊ।। १/२९१/६

यह प्रश्न बड़ा विचित्र सा लगता है। परन्तु वस्तुत: भक्ति-साधना का क्रम ही यही है। – ईश्वर को देखना, अपनी आँखों से देखना, भली प्रकार से देखना, उन्हें पहचानना और उनका स्वभाव जानना – यही भक्ति-साधना का क्रम है। इस पूरे क्रम का परिचय आपको हनुमानजी के चरित्र में मिलेगा। सुग्रीव उन्हें देख ही नहीं पाते हैं, देखकर भी नहीं देख पाते। हनुमानजी ने देखा, अपनी आँखों से देखा, भली प्रकार से देखा, पहचाना और श्रीराम के स्वभाव को जान लिया।

दूतों ने महाराज दशरथ को अपने ढंग से उत्तर दिया था। अन्त में जब प्रश्न पूरे हो गये और उन्हीं प्रश्नों को वे बार-बार दुहराने लगे, तो दूतों ने कहा – "महाराज, अब इतने प्रश्नों के हम क्या उत्तर देंगे ! हमने आपके पुत्रों को अपनी आँखों से देखा है, भलीभाँति देखा है। सब कुछ पहचाना है। फिर पूछा गया – "कैसे मान लें कि आपने देखा?" दूतों ने कहा – महाराज, क्या कहें, जब से हमने आपके पुत्रों को देखा, तब से दिखाई देना ही बन्द हो गया –

देव देखि तव बालक दोऊ।
अब न आँखि तर आवत कोऊ।। १/२९३/५

ईश्वर को देखने के बाद या तो कुछ दिखाई ही नहीं देना या सर्वत्र वही दिखाई देना – यही भक्ति-साधना का क्रम है।

जिस दृष्टि से ईश्वर को देखा जाता है, पहचाना जाता है, उनसे सम्बन्ध स्थापित होता है, हनुमानजी महाराज ने मानो हम सब लोगों के कल्याण के लिए अपने चरित्र के माध्यम से उसी दृष्टि तथा उसके साधना-क्रम को प्रगट किया है।

❖ **(क्रमश:)** ❖

भागवत की कथाएँ (६)

स्वामी अमलानन्द

(श्रीमद् भागवतम् पुराणों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उसकी कथाओं ने युग-युग से मनुष्य को धर्म के प्रति आस्था-विश्वास दिया है जिससे भारतवासियों ने दृढ़ आत्म-विश्वास प्राप्त किया है। उन्हीं कथाओं में से लेखक ने कुछ का चयन करके सरल भाषा तथा संक्षेप में पुनर्लेखन किया है। 'विवेक-ज्योति' के लिये इस ग्रन्थ का सुललित अनुवाद किया है छपरा के डॉ. केदारनाथ लाभ, डी. लिट्. ने। – सं.)

सप्तम स्कन्ध

प्रह्लाद-चरित्र

भगवान सभी जीवों के मित्र हैं। इसके बावजूद वे देवताओं से अधिक प्रेम क्यों करते हैं? इन्द्र की रक्षा करने के लिए वे असुरों का वध क्यों करते हैं? – परीक्षित ने ऐसा प्रश्न किया। इसके उत्तर में शुकदेव बोले – "निन्दा-स्तुति, और 'मैं-मेरा' का अहंकार केवल इस देह में ही निबद्ध है। आत्मा में कोई भेद-ज्ञान नहीं है। देहाभिमानी लोग जैसे कर्म करते हैं, वैसे फल पाते हैं। भगवान उन्हें जो दण्ड देते हैं, वह जीवों के कल्याण के लिए ही देते हैं।"

प्राचीन काल में असुर जाति में हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु नाम के दो भाई हुए। भगवान ने वराह-मूर्ति धारण करके हिरण्याक्ष का वध किया। इसका प्रतिशोध लेने के लिए हिरण्यकशिपु ने कठोर तपस्या की। उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उसे वर देना चाहा। असुरराज ने वर माँगा – "कोई भी देवता, गन्धर्व, असुर, नर या पशु; भूमि या आकाश में मेरा वध न कर सके।" ब्रह्मा ने कहा – तथास्तु। ब्रह्मा के वरदान से अत्यन्त शक्तिशाली होकर दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने स्वर्ग को जीत लिया। अन्य कोई उपाय न देख, देवताओं ने भगवान विष्णु की शरण ली। श्रीभगवान ने देवताओं को आश्वस्त करते हुए कहा – "थोड़ी प्रतीक्षा करो, यथासमय इसका उपाय होगा।"

दैत्यराज हिरण्यकशिपु के चार पुत्र थे। उनमें सबसे छोटे थे – प्रह्लाद। प्रह्लाद अत्यन्त सुशील स्वभाव के थे। लड़ाई-झगड़े या मारपीट में उनकी कोई रुचि नहीं थी। वे प्रतिक्षण भगवान का चिन्तन-मनन किया करते थे।

दैत्यराज के मन में आया कि प्रह्लाद के पठन-पाठन की जिम्मेदारी किसे दी जाये? उनके पुरोहित के दो पुत्र थे – षण्ड और अमर्क। ये दोनों प्रह्लाद के शिक्षक नियुक्त हुए। कुछ दिनों के बाद प्रह्लाद को गोद में लेकर राजा ने पूछा – "बोलो तो बेटे, तुमने जो कुछ पढ़ा है, उसमें तुम्हें सबसे अच्छा क्या लगता है?" प्रह्लाद ने कहा – " 'मैं-मेरा' इस मिथ्या बोध से मनुष्य उद्विग्न होता है। इसी से आत्मा का अध:पतन होता है। इस अध:पतन से परित्राण के लिए श्रीहरि का आश्रय लेने को ही मैं सबसे अच्छा समझता हूँ।"

राजा हँसे, सोचा – लगता है, किसी कपटवेशी वैष्णव ने मेरे बेटे को ये बातें सिखा दी हैं। राजा ने शिक्षकों को सावधान कर दिया कि कोई भी प्रह्लाद के मस्तिष्क में ऐसी बातें न डाल सके। षण्ड और अमर्क ने बड़ी सावधानी के साथ बच्चे को पढ़ाना शुरू किया। कुछ दिनों बाद दोनों आचार्य प्रह्लाद को साथ लेकर राजा के पास गये। प्रह्लाद ने भक्तिपूर्ण भाव से पिता को प्रणाम किया। राजा ने फिर वही बात पूछी – "इतने दिनों में तुमने गुरु के पास जो सीखा है, उसमें से कुछ अच्छी बातें मुझे बताओ।"

प्रह्लाद ने कहा – "श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पदसेवा, अर्चना, वन्दना, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन – इन नौ लक्षणों से युक्त जो भक्ति है, उसे विष्णु को अर्पित करना ही सर्वोत्तम शिक्षा है।"[१]

हिरण्यकशिपु क्रोध से पागल हो गए। शिक्षकों से कहा – "यह तुम लोगों की कैसी ढिठाई है ! मेरी बातों पर ध्यान न देकर तुमने मेरे बेटे को मेरे शत्रु विष्णु की ही बातें सिखायी हैं !" शिक्षकों ने विनम्रतापूर्वक बताया – "यह शिक्षा प्रह्लाद को हम लोगों ने नहीं दी। उसने यह शिक्षा कहाँ से पायी है, यह भी हम नहीं जानते। लगता है, उसने अपने विवेक से ही ये बातें कही हैं।" प्रह्लाद तब भी अपने पिता की गोद में बैठे थे। प्रह्लाद बोल उठे – "यह शिक्षा मुझे इन लोगों ने नहीं दी। जो जीव स्वयं ही बद्ध है, वह कृष्ण में मन लगाने की शिक्षा कैसे देगा? विषय-वासना-रहित महापुरुष के चरणों की धूल पाए बिना श्रीहरि में मन नहीं लगता।"

हिरण्यकशिपु ने क्रोधान्ध होकर बेटे को गोद से उठाकर भूमि पर पटक दिया और बोला – "कौन कहाँ हो ! इसका अभी वध करो। यह मेरे परम शत्रु हरि का सेवक है। जो बच्चा पाँच वर्ष की आयु में ही अपने पिता का शत्रु हो जाए, उसे दूषित अंग की भाँति काटकर फेंक देना ही उचित है।"

असुरों ने बालक प्रह्लाद को सूली पर चढ़ा दिया। उस पर अस्त्र-शस्त्रों से प्रहार किया। परन्तु श्रीहरि के ध्यान में मग्न होकर उन्होंने सारे आघातों को सह लिया। अनेक तरीकों से प्रह्लाद का वध करने की चेष्टा की गयी। उसे पागल हाथी के

---

१. श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।। ७/५/२३
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्।। ७/५/२४

पाँवों के नीचे फेंक दिया गया। हाथी ने बालक को अपने सूँड़ से उठाकर अपनी पीठ पर बैठा लिया। उसके चारों ओर विषधर साँप छोड़े गए, परन्तु प्रह्लाद के मुख से हरिनाम का गान सुनकर वे साँप फन फैलाकर नाचने लगे। पहाड़ की चोटी से फेंक दिए जाने पर भी बालक प्रह्लाद की मृत्यु नहीं हुई। कई दिनों तक निराहार रखकर भूख से पीड़ित बालक को खाने के लिये विष मिलाया हुआ भोजन दिया गया। परन्तु आश्चर्य की बात ! ऐसा लगा मानो बालक ने अमृत का पान करके मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली हो। श्रीहरि की कृपा से प्रह्लाद समस्त विपत्तियों से पार हो गए।

हिरण्यकशिपु चिन्तित हुए – यह कैसी बात ! इतने छोटे बालक में इतनी शक्ति कहाँ से आयी? यही नहीं, कहीं इसी लड़के से उनके जीवन का अन्त तो नहीं होगा? षण्ड और अमर्क ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा – "आप तो त्रिभुवन-जयी वीर हैं और प्रह्लाद दूधपीता बच्चा है। वह आपका कुछ बिगाड़ नहीं सकेगा। उसे हमें दीजिए, हम कुछ दिन और प्रयास कर देखेंगे कि उसे मनुष्य बना पाते हैं या नहीं।"

प्रह्लाद षण्ड और अमर्क के संरक्षण में शिक्षा पाते रहे। दोनों शिक्षक जब दूसरे कार्यों में व्यस्त रहते, तब अन्य बालक प्रह्लाद के पास आकर भीड़ लगा देते। प्रह्लाद अपने मित्रों को कई कहानियाँ सुनाते, परन्तु वे सभी भगवान की कथाएँ होतीं। वे कहते – "मनुष्य का जन्म दुर्लभ है। व्यक्ति इसी जन्म में ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। यह शरीर भी परम क्षणभंगुर है। कोई ठिकाना नहीं कि इसका कब नाश हो जायेगा। इसीलिए बुद्धिमान लोग बचपन से ही धर्म का आचरण करते हैं।[२] मनुष्य की आयु केवल एक सौ वर्षों की है। उसमें से आधी उम्र तो सोने में ही बीत जाती है। इसके अतिरिक्त रोग-शोक आदि तो लगे ही रहते हैं। और बाकी समय मनुष्य संसार के विभिन्न कार्यों में बँधे रहकर काट देता है। रेशम का कीड़ा अपने द्वारा तैयार किए हुए घर में स्वयं बँध जाता है; इसीलिए, मित्रो, तुम लोगों से कहता हूँ – जो समस्त जीवों के आश्रय हैं, उन भगवान मुकुन्द की शरण लेना ही हमारा एकमात्र कर्तव्य है।"

उन मुकुन्द माधव को प्रसन्न करना कोई कठिन कार्य नहीं है, क्योंकि वे हम लोगों के बड़े अपने हैं। वे हम लोगों के अन्तर के अन्तरतम हैं। उन प्रियतम परम पुरुष के प्रसन्न होने पर हमें सब कुछ प्राप्त हो जाता है।

मित्रों ने प्रह्लाद को घेरकर पूछा – "तुमने ये सब ज्ञान की बातें कैसे जानी।" प्रह्लाद बोले – "ये सारी तत्वज्ञान की बातें मैंने नारद से सुनी हैं। उस समय मैं माँ के गर्भ में था। और स्वयं भगवान नारायण ने नारद को यह सब कहा था।"

प्रह्लाद ने आगे कहा – "गुरुसेवा, उनके श्रीचरणों में भक्ति, साधु-भक्तों की संगति, ईश्वर की आराधना, उनकी कथा में श्रद्धा, उनके गुण और महिमा का कीर्तन, ईश्वर के चरण-कमलों का ध्यान तथा उनकी मूर्ति का दर्शन और पूजन करना; वे सभी जीवों में स्थित हैं यह जानकर सब को प्रेम करना; दान, तप, व्रत – इन सबके द्वारा श्रीहरि प्रसन्न तो होते हैं, परन्तु वे सर्वाधिक प्रसन्न होते हैं श्रद्धा और भक्ति के द्वारा। इसके अतिरिक्त अन्य सारी बातें प्रवंचना मात्र हैं। श्रीगोविन्द में एकनिष्ठ भक्ति तथा सभी जीवों में ईश्वर का दर्शन करना – यही मानव जीवन का चरम काम्य है।"

प्रह्लाद की इन सब बातों को सुनकर दैत्यों के बच्चे विष्णु के भक्त हो गये। यह बात जब हिरण्यकशिपु ने सुनी, तो उन्होंने क्रोध से आगबबूले होकर प्रह्लाद से कहा – "दुष्ट बालक ! देवता, दानव – सभी मेरे डर से काँपते हैं; तू किसके बल पर मेरी बातें नहीं मानता?"

प्रह्लाद ने कहा – "पिताजी, जिनकी शक्ति से मैं शक्तिमान हूँ, वे भगवान विष्णु केवल मेरे नहीं, आपके भी बल के आश्रय हैं तथा दूसरे जितने बलवान हैं, उन सबके भी बल वे ही हैं। ब्रह्मा से लेकर स्थावर-जंगम सभी उनके वशीभूत हैं, वे ही ईश्वर हैं।[३] वे तेज, साहस, बल-बुद्धि सबके आश्रय हैं। आप उन विष्णु के प्रति शत्रुभाव का त्याग कर दीजिए। पहले मन के रिपुओं पर विजय प्राप्त कीजिए। रिपुओं को पहले नहीं जीत कर अनेक लोग यह सोचते हैं कि मुझे दशों दिशाओं पर विजय प्राप्त हो गयी है। परन्तु ऐसा होता नहीं है। जिन्होंने स्वयं को जीत लिया है, जिनकी सभी प्राणियों में समदृष्टि है, वे साधुगण ही स्वाभाविक रूप में विजयी हैं। सभी शत्रु उनके मित्र हो जाते हैं।"

उसके उत्तर में हिरण्यकशिपु ने कहा – "अरे अभागे, निश्चय ही तू मरने को तत्पर है ! नहीं तो मुझे उपदेश देने में तुझे भय क्यों नहीं होता है? यह जो तूने कहा है कि मेरे अलावा कोई ईश्वर है, तो बता, वह कहाँ है? क्या वह सर्वत्र है? यदि ऐसा है तो सामने जो खम्भा दिख रहा है, उस खम्भे में भी क्या तेरा ईश्वर है?" प्रह्लाद ने कहा – "हाँ, अवश्य हैं।" तब राजा ने कहा – "उस खम्भे को मैं अभी तोड़ूँगा। इसके बाद इसी खड्ग से तेरी गर्दन काटूँगा। अपने श्रीहरि को अब पुकार ले कि वह आकर तेरी रक्षा करे।"

हिरण्यकशिपु ने सिंहासन से कूदकर खम्भे पर घूँसे से प्रहार किया। भयंकर नाद करते हुए उस खम्भे से भगवान प्रकट हुए। किन्तु यह किस प्रकार के भगवान हैं! उनके शरीर के कुछ अंग मनुष्य के और उसके साथ कुछ अंग

२. कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्॥ ७/६/१

३. न केवलं मे भवतश्च राजन्! स वै बलं बलिनां चापरेषाम्।
परेऽवरेऽमी स्थिर-जङ्गमा ये, ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः॥ ७/८/७

सिंह के थे – ये थे नरसिंह अवतार। भगवान नरसिंह ने अवतरित होकर हिरण्यकशिपु पर प्रबल वेग से आक्रमण किया। कहाँ गया हिरण्यकशिपु का खड्ग! कहाँ गया उसका बल-विक्रम! जैसे गरुड़ पक्षी अनायास ही साँप को पकड़कर अपने अधीन कर लेता है, उसी प्रकार नरसिंहदेव ने उसे पकड़ लिया। उन्होंने हिरण्यकशिपु को धरती पर या आकाश में नहीं, बल्कि अपनी जाँघ पर रखकर चटाई बुनी जानेवाली घास की सूखी डण्ठल की भाँति उसके असुर-शरीर को नख से चीड़-फाड़कर छिन्न-भिन्न कर दिया!

हिरण्यकशिपु मारे गए। देवताओं ने चैन की साँस ली। परन्तु नरसिंहदेव के इस भयंकर रूप को देखकर देवतागण भी भयभीत हो गए। ब्रह्मा भी सामने नहीं आ पाते थे, उनके परामर्श से ही प्रह्लाद ने नरसिंहदेव को साष्टांग प्रणाम किया और उनकी स्तुति करने लगे। नरसिंहदेव ने प्रह्लाद को धरती से उठाकर उनके मस्तक पर अपना अभयकारी कर-कमल रख दिया। भगवान के स्पर्श से उनके हृदय में विशुद्ध ब्रह्मज्ञान का उदय हुआ। नरसिंहदेव ने उन्हें वरदान देना चाहा। प्रह्लाद ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की – "यही वरदान दीजिए जिससे मेरे मन में कामना-वासना सिर न उठा सके। और यह वरदान दीजिए कि मेरे पिता ने आपसे शत्रुता कर जो पाप किया है, उससे वे मुक्त हो जाएँ।"

भगवान नरसिंहदेव तथास्तु कहकर अन्तर्धान हो गए।

अष्टम स्कन्ध

गजेन्द्र-मोक्ष

प्राचीन काल में हिमालय से थोड़ी दूरी पर त्रिकूट नामक एक पर्वत था। उसके तीन शिखर थे – एक सोने का, एक चाँदी का और एक लोहे का। इस पर्वत की घाटी में एक मनोरम सरोवर था। उसमें देवकन्याएँ जल-क्रीड़ा करती थीं। एक दिन हाथियों का एक दलपति कुछ हाथियों और हथिनियों के साथ वनभूमि में भयंकर रूप से उत्पात कर इस सरोवर में स्नान करने लगा। हाथियों का राजा होने के कारण उसे गजेन्द्र कहा जाता था। तभी सहसा एक मगर ने आकर तेजी से इस गजेन्द्र का पैर पकड़कर उसे जल के भीतर खींचना शुरू किया। गजराज ने अपने को छुड़ाने के लिए यथासाध्य चेष्टा की। साथ के हाथियों ने भी उसकी सहायता की। परन्तु ग्राह की पकड़ किसी भी तरह कम नहीं हुई। इस प्रकार गज-ग्राह का युद्ध एक हजार वर्षों तक चलता रहा।

देवतागण उपस्थित होकर यह युद्ध देखने लगे। गजेन्द्र सोचने लगा – इतने हाथियों तथा मेरी अपनी इतनी शक्ति के बावजूद मैं किसी भी तरह ग्राह की पकड़ से मुक्त नहीं हो पाता हूँ। निश्चय ही इस शत्रु को विधाता ने ही भेजा है। अत: अगति के गति उन सर्वशक्तिमान भगवान के शरणागत होने के अतिरिक्त मेरे लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है। पूर्वजन्म की शिक्षा के फलस्वरूप वे भगवान की स्तुति करने लगे –

"जो इस संसार के आधार हैं, जो संसार के उपादान कारण हैं, जिन्होंने इस विश्व की सृष्टि की है, और फिर जो स्वयं यह संसार हो गए हैं, मैं उनके शरणागत हूँ। जो समस्त जीवों के मित्र, साधुगण जिनका दर्शन करने के लिए वनवासी होते हैं, वे ही मेरे आश्रय हैं। जिनके कर्म आश्चर्यजनक होने के कारण, जो अरूप होने पर भी अनेक रूपों में विराजमान हैं, उन परमेश्वर ब्रह्म को मैं प्रणाम करता हूँ।"[४]

तब सर्वेश्वर सर्वदेवमय गरुड़-वाहन श्रीहरि स्वयं आकर उस गजपति के समक्ष आविर्भूत हुए। गरुड़ के ऊपर शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी नारायण को देखकर गजपति ने अपनी सूँड़ से एक कमल का फूल उठाकर नारायण को निवेदित करके अतीव कष्टपूर्वक दो-चार शब्दों का उच्चारण किया – "हे नारायण, हे भगवन्, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।" उस समय उसमें अधिक कुछ कहने की शक्ति ही नहीं थी।

भगवान उतने से ही सन्तुष्ट होकर गरुड़ से नीचे उतरे। उन्होंने जल में प्रवेश करके अपने सुदर्शन चक्र से ग्राह के मुँह को काट डाला। इससे गजेन्द्र की प्राणरक्षा हो गयी।

यह ग्राह एक अभिशप्त गन्धर्व था। देवल मुनि के शाप से उसका ग्राह के रूप में जन्म हुआ था। श्रीहरि के स्पर्श से उसका अभिशाप मिट गया। गन्धर्व श्रीहरि को प्रणाम तथा उनकी स्तुति करने के बाद अपने गन्धर्वलोक में चला गया।

और गजेन्द्र पूर्व जन्म में राजा इन्द्रद्युम्न थे। ये पान्त्य देश में राज्य करते थे। राजा परम भक्तिमान थे। वे मलय पर्वत के एक आश्रम में मौनी होकर तपस्या करते थे। उन्हीं दिनों वहाँ सहसा अनेक शिष्यों के साथ अगस्त्य मुनि उपस्थित हुए। मौनी होने के कारण राजा अतिथियों का यथायोग्य अभिवादन तथा स्वागत-सत्कार नहीं कर सके। इस पर अगस्त्य मुनि नाराज हो उठे। अति जड़ बुद्धि के लोग ही अतिथियों का असम्मान करते हैं। अत: मुनि ने शाप दिया – यह स्थूल बुद्धिवाला राजा हाथी हो जाय।

अगस्त्य अपने शिष्यों को साथ लेकर वहाँ से चले गए। राजा इन्द्रद्युम्न ने इस अभिशाप को ईश्वरेच्छा मानकर स्वीकार कर लिया। राजा ने हाथी का जन्म ग्रहण किया, परन्तु श्रीहरि की आराधना के फलस्वरूप उन्हें पूर्वजन्म की सारी बातें याद थीं। इस तरह करुणामय श्रीहरि ने गजराज को मुक्त कर अपना पार्षद बना लिया तथा उसे वे अपने धाम में ले गए।

❖ (क्रमश:) ❖

४. तस्मै नम: परेशाय ब्रह्मणेऽनन्त-शक्तये। अरूपायोरुरूपाय नम आश्चर्य-कर्मणे॥ नम आत्मप्रदीपाय साक्षिणे परमात्मने। नमो गिरां विदूराय मनसश्चेतसामपि॥ भा., ८/३/९-१०

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(८७) साईं सबका एक है

कुशीनगर में गौतम बुद्ध के निर्वाण के बाद वहाँ के मल्ल जाति के राजा ने भगवान बुद्ध के निर्वाण-स्थल पर स्तूप बनाने का कार्य प्रारम्भ किया। यह बात सब ओर फैल गई। मगधराज अजातशत्रु को जब यह बात मालूम हुई, तो उन्होंने मल्लराज के पास अपना दूत भेजकर सन्देश भिजवाया – ''भगवान बुद्ध क्षत्रिय थे और हम भी क्षत्रिय हैं। इस नाते उनके अवशेष पर पहला अधिकार हमारा बनता है, इसलिए स्तूप का निर्माण हमारी भूमि पर होगा।'' अजातशत्रु की देखा-देखी वैशाली के लिच्छवी राजा, कपिलवस्तु के शाक्य राजा, अल्लकल्प-केबुलियों के राजा, पावा के भल्ल राजा, रामग्राम के कोलिय राजा और वेठद्वीप के वेठदीपक राजा ने भी आपत्ति जताई। मल्ल-राज ने सबको जवाब भिजवाया – ''भगवान ने शरीर का त्याग हमारी भूमि में किया है, इसलिए उनके अवशेष पर हमारा हक है।'' इस जवाब ने आग में घी का काम किया और सब राजा एकजुट होकर मल्ल-राज पर आक्रमण करने की तैयारी करने लगे।

बात जब द्रोणाचार्य नामक एक ब्राह्मण को पता चली, तो वे इस युद्ध की सम्भावना से व्यथित हो उठे। जहाँ सभी देशों की सेनाएँ युद्ध के लिए एकत्र थीं, वहाँ जाकर उन्होंने अपनी बुलन्द आवाज में कहा – ''हे क्षत्रियजनो, जिन महापुरुष ने अपना सारा जीवन शान्ति का उपदेश देने में बिताया, उन्हीं के शरीर के अवशिष्ट अंश के लिए रक्तपात करना बड़ी ही लज्जा की बात है। ईश्वरीय अंश मानो एक ऐसा वृक्ष है, जो बिना भूमि और बिना बीज के होता है। उसमें यदि कोई फल लगे और लोग उसे 'यह मेरा है' 'यह मेरा है' कहें और उसे पाने के लिए जिद करें, तो बड़ा अनर्थ हो सकता है। ईश्वर जब किसी एक का नहीं, बल्कि सबका है, तो उस फल को भी मिल-बाँटकर खाने में ही सबकी भलाई है। आप लोग भी अस्थि-अवशेष के आठ भाग कर एक-एक भाग पर अपने-अपने देश में स्तूप का निर्माण करें।'' बात सभी राजाओं और अजातशत्रु को भी जँची। द्रोणाचार्य ने अस्थि-अवशेषों के आठ भाग कराये और तब उनसे राजगृह, वैशाली, कपिलवस्तु, अल्लकल्प रामग्राम, वेठद्वीप, पावा और कुशीनगर – इन आठ स्थानों पर बौद्ध स्तूपों का निर्माण हुआ। इस तरह द्रोणाचार्य की चतुराई से भीषण युद्ध टल गया।

(८८) अति सर्वत्र वर्जनीय

सन्त हिक्री उन दिनों तवा में रहते थे। अपनी पारिवारिक गुत्थियाँ सुलझाने के लिए लोग बड़ी संख्या में उनके पास आते थे। एक दिन एक व्यक्ति ने उनके पास आकर शिकायत की – ''मेरी पत्नी आलसी और साथ ही बेहद कंजूस भी है। वह हमेशा किफायत की ही सोचती रहती है। पैसा बचाने में उसे बड़ा आनन्द आता है। उसने गृहस्थी को नरक बना दिया है। मैं चाहता हूँ कि आप मेरी मदद करें।''

उसकी पत्नी पास ही खड़ी थी। हिक्री ने उसका अभिवादन करते हुए स्नेहपूर्वक उसे बुलाया और अपनी मुट्ठी बन्द करके उससे पूछा – ''यदि मैं अपनी मुट्ठी को हमेशा के लिए बन्द रखूँ, तो इसका परिणाम क्या होगा?'' वह स्त्री बोली – ''यह एक विकृति है। आपका हाथ अकड़कर निकम्मा हो जाएगा।'' सन्त ने मुट्ठी खोलकर पूछा – ''अगर मेरा हाथ हमेशा इसी खुली स्थिति में रहे, तो क्या होगा?'' स्त्री ने उत्तर दिया – ''यह भी एक विकृति है। इस हालत में भी आपका हाथ अकड़ जाएगा।''

हिक्री उस स्त्री की प्रशंसा करते हुए बोले – ''आप बुद्धिमान और दूरदर्शी भी हैं। आप हाथ की मुट्ठी बँधी रहने और हाथ के सीधे एक ही स्थिति में रहने से होनेवाली हानि को भलीभाँति जानती हैं। इस विवेक का उपयोग आप गृहस्थी में क्यों नहीं करतीं? पैसे का व्यय करते समय आप विवेक का उपयोग करेंगी, तो निश्चय ही आपका जीवन सुखी होगा और सुख-समृद्धि में वृद्धि होगी।'' उस स्त्री को अपनी भूल का बोध हुआ। उसने सन्त को उचित रूप में मितव्ययिता बरतने का आश्वासन दिया। किसी भी बात में अति करना कदापि उचित नहीं। ज्यादा संग्रह और अति मित-व्ययिता की धुन सिर पर सवार होना भी एक तरह की विकृति है। कृपण और निर्धन की तरह कम खर्च करके अभाव का जीवन जीनेवाला व्यक्ति कभी भी सुखी नहीं रह सकता।

आत्माराम की आत्मकथा (४७)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसकी पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

माउंट आबू में निवास

१९३२-३३ ई. की ग्रीष्म-ऋतु में आबू पहाड़ गया। नक्की झील के ऊपर की गुफा में था। वहाँ माधुकरी अन्न द्वारा उदरपूर्ति करते हुए स्वाधीन भाव से आनन्दपूर्वक रहता था। इस वर्ष भी अलवर के महाराजा (जयसिंह) के साथ विशेष सम्पर्क हुआ। वे गुफा में आते थे।

पहली बार अर्थात् १९२९ ई. में A.G.G. मि. रेजीनॉल्ड को लिखकर सदर मार्ग से शराब की दुकान हटवाई थी। दुकान ठीक सड़क के ऊपर पोलो-ग्राऊंड के सामने थी। संध्या के समय भद्र लोगों के लिए वहाँ चलना-फिरना मुश्किल हो जाता। वह देखकर पहले तो तत्कालीन पुलिस के कार्यकारी सुपरिंटेंडेंट नागरजी से कहा। लेकिन उन्होंने बताया – यह असम्भव है। मि. रेजीनॉल्ड को फिर लिखा। उन्होंने पत्र पाते ही नागरजी को बुलवाया और पूछा कि क्या वे मुझे पहचानते हैं? फिर उनके हाथ पत्र देकर कहा – जहाँ से शराब की दुकान हटानी है, वहाँ मुझे ले जाकर स्थान का निर्धारण कर लें। बहुत ढूँढने के बाद जो स्थान मैंने दिखाया, वह नागरजी को पसन्द नहीं आई। पर A.G.G. ने देखकर वहीं दुकान हटा लेने का आदेश दिया। इस प्रकार मैं उन लोगों से परिचित हो गया था। इस बार आकर एक अन्य बात से उनकी महत्ता का परिचय मिला।

गर्मी के मौसम में जयपुर तथा जोधपुर राज्य के अनेक शिकारी कुत्तों को लाकर आबू में रखा जाता था। एक दिन अहमदाबाद का एक गरीब गुजराती पटेल भोर में सनसेट-प्वाइंट की ओर घूमने गया और वहाँ एक जगह आराम करने लगा। उसके शरीर पर एक लाल चादर थी। शेर जैसे दिखने वाले जोधपुर के दो शिकारी कुत्तों ने सहसा जंगल से निकलकर उस पर आक्रमण किया और वह खड्ड में गिरकर बेहोश हो गया। नौकर ने दौड़कर दोनों कुत्तों को पकड़ लिया, अत: बच गया, अन्यथा चीर-फाड़कर रख देते।

ठीक उसी समय A.G.G.-दफ्तर के एक बड़े अफसर श्री चक्रवर्ती घूमकर उधर से लौट रहे थे। उन्होंने तत्काल खबर भेजकर उसे अस्पताल भिजवाने की व्यवस्था की। उस पटेल का मेरे साथ भी थोड़ा परिचय था। देखा – उसकी पत्नी रोती हुई जा रही है। पूछकर सारी जानकारी लेने के बाद उसे देखने गया। उसी समय उसे थोड़ा होश आया था। गले की हड्डी, छाती की पसली और हाथ की हड्डी टूट गयी थी। पैरों में चोट आई थी और सीने पर कुत्तों के नाखून की खरोचें भी थीं। उनके गले की हड्डी तथा सीने की पसलियाँ अपनी जगह पर नहीं आ सकी थीं।

मैंने डॉक्टर से कहा – ''इसका दिल बहुत कमजोर है मृत्यु हो सकती है, इसलिए जरा लिख दीजिये कि जोधपुर के कुत्तों के आक्रमण से ऐसा हुआ है।''

वे आँखें लाल करके बोले – ''मैं कैसे जानूँ कि इस पर कुत्तों ने आक्रमण किया था।''

मैं – ''यह देखिये नाखूनों की खरोचें हैं, स्वयं चक्रवर्ती साहब ने देखा है।''

– ''इस तरह के दाग और किसी के भी हो सकते हैं।''

देखा – पेट में जोधपुर का नमक होने के कारण किसी भी हालत में लिखनेवाले नहीं हैं। मैं बोला – ''अभी भी हड्डियों को अपनी जगह नहीं बैठाया गया है और यह अर्ध-बेहोशी की हालत में है, सिविल सर्जन को खबर दीजिये।''

– ''वह सब मैं समझूँगा'' – कहकर वे चले गये।

मेरे परिचित एक आर्यसमाजी वहाँ के पुलिस-कार्यालय में क्लर्क थे। बड़े सेवाभावी थे। जाकर उनसे कहा कि वे स्वयं सिविल-सर्जन के पास जाकर उन्हें उस गरीब की हालत बताकर एक बार देखने का अनुरोध करें। सिविल-सर्जन को कहते ही वे आकर हड्डी बिठाकर चले गये। फिर कुत्तों को बुलवाकर देखा और प्रतिदिन सुबह उन्हें अस्पताल में लाने का हुक्म दिया। पटेल की स्त्री से पुलिस में जाकर रिपोर्ट लिखवा आने को कहा, पर पुलिस सब-इंस्पेक्टर ने उसे भगाते हुआ कहा – ''कुछ नहीं होगा।'' फिर वे लोग जिस विश्रामगृह में रहते थे, उनके मैनेजर से कहा – ''तुम जाकर रिपोर्ट लिखवा आओ।'' उसको भी यही जवाब मिला – ''क्यों बेकार मेहनत कर रहे हैं, आप तो जानते ही हैं कुत्ते जोधपुर महाराजा के हैं?''

तब दूसरा कोई चारा न देख, मैंने सीधे A.G.G. को ही लिखा और पूरी घटना के साथ ही यह भी लिख दिया – ''कुत्ते तो विचार करके नहीं काटेंगे। उनके दिल में आते ही,

या कुछ अजीब देखते ही वे काटेंगे, अत: यदि कोई कानून हो, तो कृपया उसके तहत कुत्तेवालों को नोटिस भेजिये। और न हो, तो नया हुक्म निकालिये कि शिकारी कुत्ते बिना जंजीर के बाहर नहीं निकाले जायेंगे। साथ में यह भी लिख दिया कि आक्रमण करनेवाले कुत्ते जोधपुर के थे।''

उन्होंने 'आबू-ऐक्ट' का हवाला देकर वह चिट्ठी मैजिस्ट्रेट के पास भेज दी। मैजिस्ट्रेट अंग्रेज थे, नयी-नयी नियुक्ति हुई थी। क्रोध से लाल हो उठे – "कौन है यह, सीधा A.G.G. के पास पहुँच गया?'' उन्होंने पता लगाने सब-इंस्पेक्टर को भेजा। वे मेरे पूर्व-परिचित थे। आकर बोले – "आपने यह क्या किया ! अब शायद आपको आबू ही छोड़ना पड़े और गुफा में जो लोग हैं, वे आपको मार भी सकते हैं।''

मुझे क्रोध आया। बोला – "आपको इतनी बात करने की क्या जरूरत ! मैजिस्ट्रेट से कहिये, मैं कभी भी उनसे मिलने को तैयार हूँ।'' वे कहने लगे – "नहीं, नहीं, आपके भले के लिए ही कह रहा हूँ कि इस प्रकार सीधे A.G.G. को रिपोर्ट करना ठीक नहीं हुआ है, इसीलिए मैजिस्ट्रेट नाराज हैं।''

अगले दिन दोपहर को वे मुझे बुलाकर मैजिस्ट्रेट के पास ले गये। मुझे देखते ही उन्होंने पूछा – "क्या यह पत्र आपने लिखा है?'' – "हाँ।'' – "आप ठीक जानते हैं कि कुत्ते जोधपुर राज्य के हैं?'' – "हाँ। केवल मैं ही नहीं, स्वयं सिविल-सर्जन भी जानते हैं। उन्हीं के हुक्म से तो दोनों कुत्तों को हर रोज अस्पताल में दिखाने लाया जाता है।''

मेरे इतना कहते ही वे सब-इंस्पेक्टर की ओर मुड़कर बोले – "आप तो कह रहे थे कि कुत्तों की कोई खबर नहीं मिल रही है। यदि आप दो दिन के भीतर सारी खबर नहीं ला सके, तो मैं स्वयं खोजबीन करूँगा।''

फिर मुझे विदा किया। मेरे साथी सब-इंस्पेक्टर बाहर आकर अस्पताल की तरफ चल दिये। मुँह उतर गया था। मैंने कहा – "यदि मैं कह देता कि रिपोर्ट लिखाने जाने पर भी आपने नहीं लिखी, तो आपकी क्या दुर्गति होती, सोचिये। मुझे ऐसा करने की इच्छा नहीं हुई, क्योंकि इससे आपका बहुत बड़ा नुकसान हो जाता। एक गरीब की छोटी-सी सेवा भी नहीं कर सकते, ताकि धनी लोगों के पास से दो पैसा आने का रास्ता बन्द न हो जाय ! छी ! छी !''

सप्ताह भर कोई खबर न मिलने पर मैंने फिर A.G.G. को लिखा – "क्या कदम उठाया गया है, यह जानकर मुझे खुशी होगी। और एक बार आप स्वयं देख लीजिये कि कुत्ते कितने भयंकर हैं।'' उन्होंने देखने के लिये कुत्तों को अपने बँगले पर बुलवाया। श्रीमती रेजीनॉल्ड उन्हें देखकर डर से काँपने लगीं। स्वयं A.G.G. ने भी समझा कि इनके किसी पर आक्रमण करने से उसकी जान नहीं बचेगी। तत्काल हुक्म दिया – तीन दिनों के अन्दर आबू से कहीं और ले जाओ। उसके फलस्वरूप जोधपुर रियासत को अपमान-बोध हुआ। सब कुत्ते नीचे ले जाये गये और अगले वर्ष से आबू में कुत्ते रखना बन्द हो गया। वह पटेल बच गया था, A.G.G. ने स्वयं रुचि लेकर उसकी चिकित्सा करवाई थी।

बाघ का सामीप्य

इस बार आबू में एक और घटना हुई – मैजिस्ट्रेट ने एक बाघ को गोली मारी। उसका एक पैर जख्मी हो गया, लेकिन वह मरा नहीं और उसने गुफा के पास ही जंगल में जाकर आश्रय लिया। यहाँ शिकार करने का हुक्म नहीं था। एक रात साढ़े दस-ग्यारह बजे देखा – वह बाघ गुफा के द्वार के सामने आकर बैठा हुआ था। उसकी लँगड़ी चाल और बार-बार अपना पैर चाटने से मैं समझ गया कि यह वही घायल बाघ है। तब गुफा में दरवाजा नहीं था, परन्तु मुझे इतना विश्वास था कि वह अन्दर घुसने का साहस नहीं करेगा। वह लगभग दो घण्टे बैठकर वापस चला गया।

अगली रात वह फिर ठीक उसी समय आकर उपस्थित हुआ। बड़ी मुश्किल की बात है ! यह मनुष्यों का दुश्मन हो गया है, इसीलिये इधर आ रहा है। अब क्या किया जाय ! मैजिस्ट्रेट के हेड क्लर्क बीच-बीच में मेरे पास आते थे। उनसे कहा कि वे मैजिस्ट्रेट को बताकर उसे कोई लोभ दिखाकर वहाँ से हटवा दें। मैजिस्ट्रेट ने वहीं आकर उसे मारना चाहा, परन्तु मैं राजी नहीं हुआ।

तीसरी रात बाघ फिर ठीक उसी समय उपस्थित हुआ। वह मुझे देखता और मैं उसे देखता। पास वाली गुफा के साधु को चिल्लाकर कह दिया – "बाघ आया है, निकलना मत।'' बाघ तब भी हिला नहीं, वहीं बैठा रहा। अस्तु। चौथी रात मैजिस्ट्रेट ने मानाई झील के बाहर एक बकरा बँधवाया और उसके आने पर उसे मार डाला।

यह सारी बात बाजार में फैल गई। इसे सुनकर एक अजमेर-निवासी ठेकेदार रामचन्द्र ने गुफा के द्वार पर एक लोहे का फ्रेम और टीन का दरवाजा लगवा दिया। इसका नाम था – चम्पा गुफा। १८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने आबू आकर पहले इसी गुफा में आश्रय लिया था, तब इसका कोई नाम नहीं था, बाद में इसका नाम हुआ चम्पा गुफा।

पालनपुर के मित्र

वर्षाकाल में मैं अहमदाबाद होते हुए राजकोट और उसके बाद बिलखा गया। दिसम्बर में स्वामी विश्वानन्द के निमंत्रण पर दरबार की पार्टी के साथ पुन: मुम्बई गया। १९३३ ई. में गर्मी के समय फिर आबू गया और पहलेवाली गुफा में ही ठहरा। इस बार वहाँ पालनपुर-निवासी मित्रों के साथ परिचय हुआ।

पालनपुर के इन मित्रों में से एक थे – प्रसिद्ध जौहरी सूरजमल लल्लूभाई। उनकी मुम्बई, कोलकाता, चेन्नै तथा रंगून में हीरे-मोतियों की दुकान थी। दूसरे मित्र थे – मुम्बई के मोतियों के व्यवसायी गोदड़ भाई। ये सभी जैन थे। छोटा-लाल हेमूभाई प्रसिद्ध अन्न-व्यवसायी थे और सूरजमल भाई के साले थे। मुम्बई आश्रम की स्थापना के बाद एक बार पूजनीय महापुरुषजी इन सूरजमल के मकान में ही ठहरे थे।

सूरजमल भाई

ये बड़े उदार तथा धार्मिक थे। इनका जीवन अद्भुत था। ये एक गरीब विधवा के इकलौते पुत्र थे। १४-१५ वर्ष की आयु में ही अर्थोपार्जन हेतु मुम्बई गये। वहाँ वे हीरे-मोतियों की एक दुकान पर बही-खाता लिखने के काम में लग गये। मिलता था – दस रुपया महीने और खाना। दो साल काम करने के बाद उन्हें हीरे-मोतियों की जाँच का काम सिखाया गया। अत्यन्त शान्त, मृदुभाषी, विनयी, सत्यनिष्ठ तथा धार्मिक स्वभाव के होने के कारण ये शीघ्र ही दुकानदार के प्रिय तथा विश्वासपात्र कर्मचारी हो गये।

शायद तीसरे साल की बात है, उनके हाथ किसी ग्राहक के पास हीरा बेचने को भेजा गया। खाता लिखने के कारण उन्हें उसका मूल्य मालूम था और जो मूल्य बताया गया था, वह अधिक था। जब पुराने ग्राहक को मूल्य अधिक लगा, तो उन्होंने पूछा – "यह तो बहुत ज्यादा दाम माँग रहा है। लड़के, सच कहो, इसका पड़ता (लागत) कितना है?" इन्होंने जो सच था, कह दिया। इस पर ग्राहक नाराज हुआ और खरी-खोटी सुनाकर उन्हें वापस भेजते हुए कह दिया – वे अब कभी भी उस दुकानदार से कोई सम्पर्क नहीं रखेंगे।

ये माल लेकर लौटे और मालिक को सब बता दिया। मालिक ने क्रुद्ध होकर कहा – कहाँ धर्मपुत्र युधिष्ठिर बने हो, क्या हमारा दीवाला निकलवाओगे? तुमने क्यों बताया कि कितने का पड़ता है? सच बोलने से क्या व्यापार चलता है? वे बोले – "क्या करूँ, जानता था, इसीलिए कह दिया। सच बोलने से व्यापार क्यों नहीं होगा? व्यापार में क्या सत्य का स्थान कोई नहीं है?" दुकानदार ने कहा – "जाओ न। सच बोलकर इस हीरे को बेच आओ तो मानूँ। यदि बेच सको, तो रुपया तुम्हारा है। जाओ।" वे बाहर निकले, दस दिन इधर-उधर घूमने के बाद एक घड़ीवाले ने वह हीरा खरीदते हुए कहा – "लड़के, तुम इस लाइन के आदमी नहीं हो, सचमुच पड़ता (लागत) आदि नहीं बताना चाहिए, जो लेना है, वही कहोगे। कोई पूछे कि कितना पड़ता है और यदि झूठ नहीं बोल सकते, तो कहना – मैं तो इतना ही लूँगा।" फिर कहा – बीच-बीच में छोटे-छोटे हीरे वे खरीद सकते हैं और दुकानदार ने इस वचन का पालन भी किया था। भगवान की दया से उसी से उनके व्यापार या दुकान की नींव पड़ी। उन्होंने उन रुपयों से कमीशन पर हीरे लेकर बेचना शुरू किया। उस घड़ीवाले के द्वारा उनको कुछ स्थायी ग्राहक भी मिल गये। फिर एक बार मुम्बई के किसी प्रसिद्ध धनाढ्य पारसी की दुकान से बीस-तीस हजार रुपये का हीरा खरीदने का आर्डर आया। वह घड़ीवाला उस पार्टी के साथ परिचित था और उसने सूरजमल की सत्यनिष्ठा की बात कहकर उन्हीं की मार्फत हीरा खरीदने को कहा था। अत: उन्होंने कहलवा दिया था कि हीरा उन्हीं के हाथ भेजें। आयु कम थी, परन्तु होशियार थे, तो भी दुकानदार को डर हुआ। पर अन्य कोई चारा न देख, समझा दिया था – बताना कि यह मूल्य है और पड़ता के बारे में कुछ मत कहना। हीरा ग्राहक को पसन्द आया, पर उन्होंने सूरजमल से एक बार फिर देख लेने को कहा, तो उन्होंने बताया – इसमें एक यह दोष है, जिसके कारण इसका उतना दाम नहीं हो सकता है। उस हीरे की श्रेणी ही अलग होगी। और कह दिया – इस दोषपूर्ण हीरे को बदलकर मैं दूसरा हीरा दे जाऊँगा। वे तो अवाक् रह गये। इतना सूक्ष्म दोष देखने की शक्ति केवल उस्तादों में ही होती है। दूसरे नहीं देख सकते। उनको तो पसन्द आ ही गया था और रुपये भी दे देते। नहीं, यह देवता है, ऐसा लोभ जो संवरण कर सकता है, वह देवता ही है। दुकानदार भी अवाक् हो गया, वह भी श्रद्धा किये बिना न रह सका। हीरा बदल दिया। उस पार्टी के कारण और कई खरीददार मिले और सभी सूरजमल भाई को चाहते और उन्हीं की मार्फत खरीदना चाहते। क्रमशः वे उस दुकान के भागीदार हुए और फिर यथेष्ट पूँजी हो जाने पर अपनी खुद की दुकान की। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक सत्य को नहीं छोड़ा, तो भी हीरे-पन्नों के व्यापार में लाखों रुपये कमाये। उनकी मृत्यु के पश्चात् गोदड़ भाई ने उनके जीवन की अन्य एक घटना बताई थी, जो और भी सुन्दर है।

एक बार कुछ व्यापारियों ने मिलकर कुछ हीरे, माणिक, मोती दूसरे से मँगवाये। गोदड़ भाई भी उनमें एक थे। ये सब सूरजमल भाई की दुकान के मार्फत मँगवाये थे। उसमें सूरजमल भाई का भाग ही ज्यादा था। जब माल आया, तब वे चेन्नै या अन्यत्र कहीं गये हुए थे। लौटने में पाँच-छह महीने की देरी हुई। कस्टम-विभाग ने वहाँ के खरीद-मूल्य पर ही टैक्स जोड़कर करीब तीन हजार रुपये कम लिये थे। भागीदार इस पर बड़े खुश थे। सूरजभाई जब लौटकर खाता आदि देख रहे थे, तब उनके क्लर्क ने उन्हें बता दिया कि ऐसा हुआ और कहा कि बचत को भागीदारों ने आपस में बाँट लिया है। उन्होंने गम्भीर होकर कहा – "यह कैसी बात! इस भूल की बात तुमने अफसर को क्यों नहीं बतायी, सरकार के प्राप्य रुपये उन्हें वापस करने होंगे, जाओ सबको

बता दो।'' सुनकर वे लोग तो अवाक् रह गये। हाथ में आया हुआ धन, और जिसमें अपना कोई दोष भी नहीं हुआ है, सरकार की गलती से हुआ है, उसे अब इतने दिनों बाद लौटा दिया जाय ! सभी व्यापारियों ने उनसे मिलकर अपनी व्यवसायी बुद्धि के अनुसार उन्हें ऐसा करने से मना किया। पर उन्होंने किसी की नहीं सुनी और कहा कि यदि वे लोग न भी दें, तो वे कस्टम में जाकर अपनी ओर से रुपये जमा करा देंगे और भविष्य में उन लोगों के साथ कोई माल नहीं मँगायेंगे। किसी एक ने कहा – ''ये रुपये केवल सरकार का भण्डार भरने में जायेगा और कई समस्याएँ भी खड़ी होंगी। इससे अच्छा तो यह होगा कि सब लोग रुपये वापस कर दें और उनको किसी धर्म के कार्य में लगा दिया जाय।''

सुनकर सूरजमल भाई ने कहा – ''आप लोग कह क्या रहे हैं? गलत उपाय से अर्जित धन क्या कभी भले कार्य में लग सकता है? असत्य वस्तु कभी सत्कार्य मैं नहीं लग सकती। यह धन किसी व्यक्ति को देने पर उसका अनिष्ट हो सकता है, शायद उनमें अशुद्धि का उदय हो। यह पाप होगा। मैं इस कार्य में शामिल नहीं हो सकता।'' और साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि वे अपनी ओर से रुपये सरकार को लौटाने जायेंगे। अन्त में सबको राजी होना पड़ा और सूरजमल भाई के प्रति सबकी श्रद्धा दुगनी हो गई। इसके बाद वे कमिश्नर साहब के पास गये और सारी बातें समझाईं। अफसर की कोई हानि न हो, इसकी व्यवस्था करके रुपये लौटा दिये। कमिश्नर तो अवाक् था – व्यापारी दुकानदार इतने सत्यवादी हो सकते हैं ! बोले – ''सूरजमल भाई, आप सामान्य मानव नहीं हैं। जीवन में दूसरा कोई इस प्रकार का निर्लोभी और सत्यवादी नहीं देखा।''

एक व्यवसायी ऐसा इमानदार हो सकता है, यह नि:सन्देह कल्पनातीत है। भागवत में तुलाधार वैश्य की कथा है, पर इनका जीवन भी उसकी अपेक्षा किसी भी अंश में कम नहीं था। ये सभी धर्मों की समानता के भाव से प्रभावित थे, अत: जैन होते हुए भी ये श्रीरामकृष्ण, स्वामीजी तथा रामतीर्थ के प्रति बड़े श्रद्धालु थे। उन्होंने पालनपुर में एक बगीचा तथा भवन बनवाया। उसमें ऐसी व्यवस्था करने का संकल्प था कि सभी सम्प्रदायों के साधु-संन्यासी उसमें अपने-अपने भाव के अनुसार रह सकेंगे। पर उसके पूर्व ही मृत्यु हो जाने से उनका वह संकल्प अपूर्ण ही रह गया। धन्य थे सूरजमल भाई !

गोदड़ भाई

गोदड़ भाई भी जैन थे और उनकी अभी हाल ही में मृत्यु हुई है। उनका जीवन भी पवित्र, शुद्ध और सात्त्विक था। एक बार आबू में इन कुछ लोगों ने मेरे समक्ष एक व्रत लिया था – एक वर्ष तक हममें से कोई भी झूठ नहीं बोलेगा, और जितनी भी बार यह व्रत टूटेगा उसको लिखकर रखेंगे, वर्ष के अन्त में पुन: माउंट आबू में मिलने पर उस पर विचार होगा और उसके लिये मैं जो दण्ड निर्धारित करूँगा, उसे वे लोग स्वीकार करेंगे। उस समय व्रत तो तीन लोगों ने लिया था, परन्तु उनमें से केवल गोदड़ भाई ही उसका पालन कर सके थे। वर्ष के अन्त में जब उनसे पुन: आबू में मुलाकात हुई, तो मुझे उस व्रत की बात याद नहीं थी, गोदड़ भाई ने ही उसकी याद दिलाई थी। बाकी सभी लोग इसमें बुरी तरह असफल रहे थे, इस बात को स्वीकार करते हुए उन लोगों ने कहा कि उन्होंने उसे व्रत मानकर स्वीकार नहीं किया था। सोचा था कि ऐसे ही बात की बात है।

परन्तु गोदड़ भाई ने बताया कि उन्होंने व्रत लिया था। और एक वर्ष में केवल पाँच बार लोभ संवरण न कर पाने के कारण झूठ बोला था। मोतियों के एक सौदे में झूठ बोलकर उन्हें काफी लाभ हुआ था। बोले – ''अब आप जो भी दण्ड निर्धारित करें, मैं स्वीकार करने को तैयार हूँ। लेकिन वह ऐसा हो, जो मेरी सामर्थ्य के बाहर न हो।'' बाकी लोग उत्साहित होकर कई तरह की राय देने लगे। मैंने सोच-विचार कर यह दण्ड निर्धारित किया कि वे अपने गाँव में गरीबों को विद्यादान करने के लिए एक पाठशाला बनवायेंगे। उनके गाँव में गरीबों के लिए पढ़ाई की ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी। वे उसी समय राजी हो गये और विश्वासी शिक्षक माँगा। ईश्वर की कृपा से वहीं एक गुजराती सेवाभावी युवक मिल गये, जो उनके सुपरिचित, स्वजातीय और पालनपुर राज्य की ही प्रजा थे। वे भी उस पाठशाला में शिक्षक के रूप में नियुक्त होने को राजी हुए। इसके दो महीने बाद ही काम शुरू हुआ। वह विद्यालय सागरासना गाँव में अब भी भलीभाँति चल रहा है।

❖ (क्रमश:) ❖

नारदीय भक्ति-सूत्र (२०)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों के जापान-यात्राओं के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानं अविच्छिन्नं सूक्ष्मतरं अनुभवरूपम् ।।५४।।

अन्वयार्थ – (यह प्रेम) **गुणरहितम्** – गुणों से रहित, **कामना-रहितम्** – कामनाओं से रहित, **प्रतिक्षण-वर्धमानम्** – हर पल बढ़नेवाला, **अविच्छिन्नम्** – निरन्तर, **सूक्ष्मतरम्** – सूक्ष्मतर, **अनुभवरूपम्** – अन्तरतम अनुभव रूपी (है)।

अर्थ – यह (प्रेम) गुणों से रहित, कामनाओं से रहित और हर पल बढ़ता रहने वाला है। यह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और सतत आन्तरिक अनुभव रूप है।

अब प्रेम का आगे वर्णन किया जाता है कि यह सभी गुणों से रहित, सभी कामनाओं से रहित और प्रतिक्षण वर्धमान है। यह एक प्रकार का अनुभव है जिसे इस ढंग से वर्णित किया गया है। यह अनुभूति रूप है, अनुभव रूप है। यह अनुभव अन्तर्बोधात्मक है, गुणों – सत्व, रजस् और तमस् – तीनों गुणों से मुक्त, सभी कामनाओं से रहित, प्रतिक्षण वर्धमान और अविच्छिन्न होता है। यह सूक्ष्मतम से भी सूक्ष्मतर है।

ये सभी अभिव्यक्तियाँ इस प्रेम का वर्णन करने में प्रयुक्त होती हैं। इस वर्णन का हर अंश ईश्वर के प्रति इस प्रेम की खास विशेषता है। जैसा कि कहते हैं कि ज्ञानी तीनों गुणों के ऊपर होता है, वैसे ही हम पाते हैं कि इस ईश्वर-प्रेम की अनुभूति करनेवाला भक्त भी तीनों गुणों से ऊपर होता है।

तीनों गुणों की अपनी विशेषतायें होती हैं। प्रथम गुण सत्त्व से सुख मिलता है। सुख उसे कहते हैं जो विषयों से प्राप्त होता है या फिर वह जो एक क्षण आता है और अगले ही क्षण चला जाता है। अत: सुख प्रदान करनेवाला सत्त्व – यह प्रथम गुण है। रजस् दूसरा गुण है। रजस् व्यक्ति को कर्म में लगाता है, हमेशा क्रियाशील बनाये रखता है। परन्तु जब उसमें यह ईश्वर-प्रेम व्यक्त हो जाता है, तब वह भक्त वैसा नहीं रह जाता, तब वह क्रियाशील प्रवृत्ति का नहीं रह जाता। ऐसा इसलिये है कि वह व्यक्ति उस ईश्वर-प्रेम में निमग्न रहता है। ईश्वर-प्रेम में यह निमग्नता उसके लिये बार-बार बाह्य क्रिया-कलापों में लगना असम्भव बना देती है।

तीसरे तमोगुण का लक्षण है आलस्य। भक्त आलसी नहीं होता। वह पत्थर की भाँति जड़ या निष्क्रिय नहीं होता। यह भक्ति पूर्ण-तन्मयता की अनुभूति है। आलस्य में सभी अनुभवों का अभाव होता है। यह मन की निद्रा की अवस्था है, जब मन सो जाता है, तो वह तमस् है।

अत: भक्त तीनों गुणों से और सभी कामनाओं से भी मुक्त होता है। वह किसी वस्तु की कोई भी इच्छा नहीं रखता, क्योंकि उसके लिये सभी चीजें निरर्थक हैं। उसका मन ईश्वर में इतना अधिक तन्मय रहता है कि उसे किसी वस्तु की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं होता। अत: वह बाह्य पदार्थों की इच्छा से मुक्त होता है। यहाँ तक कि उसमें आन्तरिक इच्छायें भी नहीं होतीं। हमारे मन में आन्तरिक इच्छायें हो सकती हैं। उदाहरणार्थ मन की संवेदनाओं के सुख की इच्छा हो सकती है। परन्तु भक्त को उसकी भी जरूरत नहीं होती, क्योंकि उसका मन ईश्वर-प्रेम से परिपूर्ण रहता है, अत: उस समय उसे किसी भी वस्तु की कामना नहीं रहती। इस (प्रेम) का एक अन्य लक्षण है – इस अनुभव की एक बड़ी अद्भुत विशेषता यह है कि यह विस्तार को प्राप्त होता रहता है, मानो तीव्रता में बढ़ता जाता है। जैसा कि पहले बताया गया, इसकी अवधि बहुत लम्बी होती है। यह एक निरन्तर प्रवाह है और केवल इतना ही नहीं, यह हमेशा वृद्धि को भी प्राप्त होती रहती है।

तो उस अवर्णनीय (प्रेम) का इस प्रकार वर्णन किया जाता है – यह एक अनुभव के रूप में होता है। यह सभी गुणों से रहित और सभी लक्षणों तथा स्वार्थपरक क्रिया की प्रवृत्तियों से मुक्त होता है। यह एक तरह के सघन आन्तरिक अनुभव के स्वरूप का होता है। यह सूक्ष्मतम से भी सूक्ष्म तत्त्व कुछ शर्तों के पूर्ण होने के फलस्वरूप स्वत: प्रकट होता है और प्रतिक्षण बढ़ता रहता है। उत्पन्न होने के बाद

यह स्थिर नहीं रहता। यह निरन्तर बढ़नेवाला – निरन्तर फैलनेवाला होता है और इस दृष्टि से यह अत्यन्त क्रियाशील है। इसी कारण इसका वर्णन नहीं किया जा सकता या इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। ईश्वरप्रेमी भक्त के जीवन के प्रत्येक क्षण में उस प्रेम की तीव्र उत्कण्ठा बनी रहती है। ऐसा नहीं है कि वह प्रेम आता और जाता रहता हो, बल्कि स्थायी रूप से बना रहता है और निरन्तर बढ़ता रहता है।

हर प्रकार का मानवीय प्रेम इच्छा से युक्त होता है। परन्तु इसमें कोई चिरकालिक इच्छा नहीं रहती। उत्पन्न होने के बाद यह ईश्वर-प्रेम केवल एक ही ओर उन्मुख होता है – भक्त वह प्रेम ईश्वर को केवल देना ही चाहता है, कभी किसी प्रतिदान की अपेक्षा नहीं रखता। यही मूल बात है। इस प्रेम की यही खास विशेषता है। जिसे स्वयं में ऐसा प्रेम मिल जाता है, वह ईश्वर से कोई प्रतिदान नहीं माँगता। वह प्रसन्न रहता है। वह अपने प्रेम को देता है और कभी किसी प्रतिदान की आशा नहीं रखता। वह ईश्वर से कोई प्रतिदान माँगने की कल्पना तक नहीं कर सकता। अत: ईश्वरप्रेमी एक दाता होता है, ग्रहीता नहीं। वह भिखारी जैसा नहीं होता। वह कुछ माँगता नहीं, बल्कि केवल अपने हृदय की भावना को एक अजस्र निर्झर की भाँति अबाध रूप से ईश्वर की ओर प्रवाहित होने देता है। वह निर्झर या प्रवाह निरन्तर विस्तार को प्राप्त होता रहता है। यह प्रेम जितना ही प्रवाहित होता है, उतना ही अधिक बृहत्तर, दृढ़तर तथा अधिक विस्तार वाला होता जाता है; और भक्त उसी प्रेम में तल्लीन रहता है।

तत् प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव श्रृणोति
तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति ।।५५।।

अन्वयार्थ – **तत्** – उसे (प्रेम को) **प्राप्य** – प्राप्त करके, **तत् एव** – उसी को, **अवलोकयति** – देखता है, **तत् एव** – उसी को, **श्रृणोति** – सुनता है, **तत् एव** – उसी को, **भाषयति** – कहता है, **तत् एव** – उसी को, **चिन्तयति** – सोचता है।

अर्थ – उसे (प्रेम या परम भक्ति को) पाने के बाद वह उसे ही देखता है, उसे ही सुनता है, उसी के बारे में बोलता है और उसी का चिन्तन करता है।

हम इस प्रेम का वर्णन नहीं कर सकते क्योंकि यह सूक्ष्मतम से भी सूक्ष्मतर है। तो भी यह एक सकारात्मक अनुभव है। इसीलिये कहा जाता है कि यह अनुभव रूप है, इस कारण न तो इसकी उपेक्षा की जा सकती है, और न ही इसे असत् कहा जा सकता है। भक्त के मन में स्थित ईश्वर-प्रेम के सकारात्मक अनुभव के कारण हम नहीं कह सकते कि इसकी सत्ता नहीं है। यद्यपि अन्य लोगों को ठीक वैसा ही अनुभव नहीं होता, किन्तु अपेक्षित योग्यता से युक्त अर्थात् हृदय में प्रेम को धारण करने में समर्थ भक्त तो इसका पूर्ण मात्रा में अनुभव करता रहता है। यहाँ इसी बात का उल्लेख है कि वह प्रतिक्षण बढ़ता रहता है।

इस सूत्र में यह जोड़ दिया गया है कि प्रेम की उपलब्धि भक्त को किसी अन्य चीज में नहीं लगाती और यहाँ उसी बात को और भी विस्तार से कहा गया है। उस प्रेम को प्राप्त करने के बाद भक्त केवल उस प्रेम को ही देखता है। 'देखता है' अर्थात् उसकी देखने, सुनने आदि की सारी क्रियाएँ एकमात्र उस प्रेम में ही केन्द्रित हो जाती हैं। अत: भक्त वही सुनता है, वही देखता है, उसी के बारे में बोलता है और उसी के बारे में सोचता है। उसके लिये किसी अन्य वस्तु के बारे में सोचने की गुंजाइश ही नहीं रहती। मन केवल उस प्रेम में ही पूर्णतया निमग्न रहता है।

यही वह परम प्रेम है, जिसका यहाँ वर्णन किया गया है। संक्षेप में कहें, तो यह प्रेम वर्णन से परे है। तथापि यह एक अनुभवमूलक सत्य है और यह अनुभव ऐसा है कि इसमें भक्त का मन अन्य सभी विचारों से मुक्त हो जाता है। मन एकमात्र उसी विचार में पूरी तौर से निमग्न हो जाता है। ''वह उसी को सुनता है, उसी के बारे में बोलता है और उसी के बारे में सोचता है'' – इस कथन से यही बात अभिव्यक्त होती है। यह पूर्ण रूप से उस प्रेम में निमग्नता है और इसका परिमाण प्रति पल बढ़ता रहता है। इसका प्रवाह कभी विच्छिन्न नहीं होता। यह सूक्ष्मतम से भी अधिक सूक्ष्म होता है, इसलिये इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसी को परम प्रेम का लक्षण बताया गया है।

❖ (क्रमश:) ❖

ईशावास्योपनिषद् (१७)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने वर्षों पूर्व रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग-भवन में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने ने किया तथा वक्ता की पूर्ण सहमति से इसका सम्पादन एवं संयोजन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है।)

भगवान श्रीरामकृष्णदेव के पिता की मृत्यु के बाद उनके बड़े भाई रामकुमार चटर्जी, जो कि उनके पिता के समान थे और रामकृष्णदेव से लगभग ३० वर्ष बड़े थे, वे श्रीरामकृष्णदेव को कलकत्ता ले आये। रामकुमार ने कलकत्ता में संस्कृत पाठशाला खोली थी और पुरोहिती भी करते थे। उनकी इच्छा थी कि रामकृष्ण भी कुछ पढ़-लिखकर पैसे कमाये। किन्तु रामकृष्ण का पढ़ने में मन नहीं लगता था। एक दिन रामकुमार ने छोटे भाई को बुलाकर पूछा, अरे गदाई (श्रीरामकृष्ण), अगर तू पढ़ेगा नहीं तो भविष्य में तेरी जीविका कैसे चलेगी, तेरा परिवार कैसे चलेगा? और तब श्रीरामकृष्णदेव ने जो उत्तर दिया वही अविद्या है। श्रीरामकृष्ण ने कहा – "दादा, मैं केवल रोटी-कपड़ा कमानेवाली विद्या नहीं पढ़ना चाहता, मैं तो ऐसी विद्या पढ़ना चाहता हूँ, जो मुझे भवसागर से पार करा दे। जो विद्या मुझे संसार के बन्धनों से मुक्त करा दे।" रामकुमारजी इसका उत्तर नहीं दे सके। वस्तुत: जिन विभिन्न प्रकार के ज्ञानों को जानकर हम ज्ञानी होने का इतना अभिमान करते हैं, उस ज्ञान से हमें क्या लाभ हुआ? उपनिषद यह नहीं कहता कि इसको मत करो, इसे छोड़ दो। यहीं हम भूल सोचते हैं। उपनिषद पढ़ने वालों को लगता है कि ये भौतिक विद्या तो अविद्या है ही और पराविद्या तो हम सीख नहीं सकते इसलिये उपनिषद् पढ़ना ही व्यर्थ है। उपनिषद केवल इतना कहते हैं कि विद्या और अविद्या का अन्तर समझ लो। जैसा कि ग्यारहवें मन्त्र में ऋषि ने उल्लेख किया है –

> विद्यां च अविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
> अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायाऽमृतमश्नुते ॥

– जो विद्या और अविद्या दोनों को जानता है, वह अविद्या द्वारा मृत्यु को जीतता है तथा विद्या के द्वारा अमृतत्व का अनुभव करता है।

अविद्या के द्वारा जीविका चल सकती है। जीवन चल सकता है, किन्तु जीवन की उन्नति नहीं हो सकती, जीवन का परम प्राप्तव्य नहीं मिल सकता। उपनिषद की दृष्टि से यह सारा भौतिक विज्ञान अविद्या है। किन्तु यह अविद्या है इसलिये इसे त्यागने की आवश्यकता नहीं है। अभी मैं अस्वस्थ हूँ, तो मुझे डॉक्टर की आवश्यकता है, मकान बनाना है तो इन्जीनियर की आवश्यकता है। हमें विभिन्न प्रकार की विद्यायें और कलाओं की आवश्यकता है, नहीं तो जीवन चलाना सम्भव नहीं होगा। किन्तु उपनिषद यह कहते हैं कि भौतिक विद्या की सीमा को समझ लो। वह जीवन में परम सुख नहीं दे सकती। मुण्डक उपनिषद में ऋषि अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहते हैं। जब सौनक ऋषि ने ऋषि अंगिरा से पूछा था 'किसको जानने से सब कुछ जाना जा सकता है? तो ऋषि अंगिरा कहते हैं – दो विद्यायें जाननी चाहिये – 'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा च अपरा च ' — परा और अपरा ये दोनों विद्यायें जानो। किन्तु केवल अपरा विद्या का आश्रय लेकर यदि परा विद्या को भूल जाओगे तो कठिनाई में पड़ जाओगे। दूसरी ओर यदि अपरा विद्या की उपेक्षा करके केवल पराविद्या को लेकर रहोगे, तो जीवन-निर्वाह कैसे होगा? परा और अपरा विद्या को समझकर, अपरा विद्या वह सीढ़ी है, जिसका उपयोग कर हम परा विद्या की ओर जा सकते हैं। इसलिये अविद्या का जीवन में उचित स्थान हो और हम पराविद्या तक जाकर पहुँच जाय। यह जो अविद्या भौतिक ज्ञान है, वह हमारे जीवन का आधा अंश है। इसलिये वह त्याज्य नहीं है, उपयोगी है और विद्या का दूसरा आधा भाग इस अविद्या को पार करने के बाद मिलेगा। अब उस अविद्या को कैसे पार करें और विद्या को कैसे प्राप्त करें, इसका भी उपाय उपनिषद में बताया गया है।

ईशावास्योपनिषद् में प्रथम मन्त्र से लेकर आठवें मन्त्र तक बड़े ही महत्वपूर्ण तत्त्व की चर्चा है। प्रथम मन्त्र में बताया गया की सब कुछ ईश्वर से आच्छादित है, इसलिये उसको पाने की इच्छा करो। दूसरे मन्त्र में कहा कि अगर उस प्रकार की मानसिक स्थिति न हो, उतना सामर्थ्य नहीं हो, तो कर्म करो – कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समा:। फिर आत्मा के लक्षण में कहा गया कि उस परमब्रह्म का चिन्तन करो और यदि उच्च अधिकारी नहीं हो, तो निष्काम कर्म करो। यदि इन दोनों को नहीं करेंगे, तो क्या होगा? हम स्वयं आत्महत्यारे हो जायेंगे। फिर आत्मा के ग्यारह लक्षणों को बताया गया। नौ से बारहवें मन्त्र तक इसी तत्त्व को हमारे सामने दूसरे ढंग से रखा गया है। नौ से चौदह तक के मन्त्रों में हमें विद्या-अविद्या का अन्तर तथा उपासना की पद्धति बतायी गयी है और यह बताया गया कि यदि हम इसका पालन नहीं करेंगे तो हमारी दुर्गति कैसे हो जाती है।

ये साधना के मन्त्र हैं। इन्हें जब हम पहली बार पढ़ते हैं, तो हमें विरोधाभास लगता है कि ऐसा विपरीत कथन कैसे कहा गया कि जो लोग विद्या में निरत हैं, विद्याभिमानी हैं, वे घोर अन्धकार में जाते हैं –

अन्धं तम: प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रता: ।।

इस श्लोक पर थोड़ा विचार करें। उपनिषदों की इस चर्चा को हमें अपनी चर्या में, व्यवहार में, जीवन में, अपने आचरण में लाना होगा। इन सारे शास्त्रों का अध्ययन, चिन्तन हमारे मन को संस्कारित करने के लिये है। इस अध्ययन, चिन्तन में यदि दूसरे व्यक्ति भी सहयोगी हों और उनका मन भी संस्कारित हो जाय तो यह उपफल है। इस भूमिका को ध्यान में रखकर इस मन्त्र पर हम विचार करेंगे।

वह संस्कार क्या है? सरल शब्दों में व्याख्या करें, तो इसके दो रूप दिखेंगे – एक जो दुर्गुण हममें आ गये हैं, जो विजातीय हैं, जो स्वभाव नहीं है, उसे दूर करना। दूसरा – जो वस्तु जिस उपयोग के लिये है, उसे उसके शुद्ध रूप में स्वीकार कर, उस वस्तु का सदुपयोग कर लेना। ये दो संस्कार के प्रयोग हैं। उदाहरणार्थ खेत में धान बोया है। समय आने पर उसे काटकर वह खेत से खलिहान में लाया गया। यह धान चावल का प्रथम रूप है। दूसरा, चावल का सदुपयोग है उसे पकाकर, उसे खाकर मनुष्य स्वस्थ जीवन व्यतीत करे। मिल में धान से चावल निकाला गया और तब लोगों ने उससे भोजन बनाया। इस संस्कारित चावल के भात से शरीर का पोषण होता है। इसका नाम है संस्कार। जो वस्तु हमारे जीवन के लिये उपयोगी है, उसे प्रकृति ने उस रूप में हमें नहीं दिया। प्रकृति ने चावल की रक्षा के लिये आवरण बनाया, किन्तु उसे भोजन के रूप में उपयोग लाना हो तो हमें उसे संस्कारित करना पड़ेगा। फिर उससे विभिन्न प्रकार के पकवान बनाये जा सकते हैं – इसका नाम है संस्कार।

दूसरा उदाहरण – भिलाई में प्राकृतिक अयस्क लाया जाता है, उसको संस्कारित करके इस्पात आदि बनाया जाता है। यद्यपि लोहा को जब हम खादान से लाते हैं, तब इसका उपयोग हम नहीं कर सकते, किन्तु जब वह विभिन्न प्रक्रियाओं से संस्कारित कर दिया जाता है, तब हम उसका उपयोग कर सकते हैं। लोहे का प्रयोजन यह है कि उससे मनुष्य के उपयोग के लिये विभिन्न प्रकार की वस्तुयें बनायी जायँ।

मनुष्य के जीवन को ही देखें – जब हम मातृगर्भ से बाहर आते हैं, तब मनुष्य और सामान्य पशु-पक्षी इनमें हमें बहुत बड़ा अन्तर दिखता है। पशु के बच्चे को यदि उसकी माँ उसे न देखे तब भी वह बच जाता है। किन्तु यदि मनुष्य के बच्चे को उसकी माँ चौबीसों घण्टे देखभाल न करे, तो वह तीन-चार वर्ष का होकर भी मर सकता है। बालक विकसित होकर क्या बने, उसमें कौन से संस्कार डाले जायँ, जिससे वह पूर्णत: विकसित हो, यदि हम शास्त्र की भाषा में कहें, तो बालक कैसे पूर्ण पुरुष हो जाय? क्योंकि यदि वह स्वयं पूर्ण पुरुष हो जायेगा, तो अन्यों को भी पूर्णता का अनुभव कराने में सहायक होगा। यह सब कैसे होगा? इन पूर्ण पुरुषों के उदाहरण हमारे सामने हैं। संसार में जो भी महापुरुष हुये हैं, वे सब पूर्ण पुरुष थे। जैसे – भगवान राम, भगवान कृष्ण, भगवान ईसा मसीह, भगवान बुद्ध, रामकृष्ण परमहंस, ये सब पूर्ण पुरुष थे। इनके लक्षण क्या हैं? इस उपनिषद के ग्यारहवें मन्त्र में इनके लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया गया है, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। वह मन्त्र है –

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।।

ये उनके लक्षण हैं। उन्होंने विद्या और अविद्या का अन्तर समझकर उसका यथोचित जीवन में आचरण किया और इस आचरण के परिणाम स्वरूप वे लोग पूर्ण हुये।

पूर्ण पुरुष की पहचान क्या है? पूर्णपुरुष सर्वथा निर्दोष होता है, उसमें कोई दोष नहीं रहता है। यदि आप उन्हें भौतिक दृष्टि से देखेंगे तो आप कहेंगे कि इनमें भी कुछ दोष दिखता है। वे बीमार पड़े। कभी किसी पर कृपा की, कभी किसी पर नहीं की। भगवान कृष्ण ने पक्षपात किया, दुर्वासा क्रोधी थे, वशिष्ठ और विश्वामित्र ने एक-दूसरे से लड़ाई की आदि-आदि। यह सब अविद्या के क्षेत्र में आता है। भौतिक दृष्टि से, पदार्थ की दृष्टि से जीवन में पूर्णता नहीं परिपक्वता उपलब्ध होती है। किन्तु पूर्णता ज्ञान-तत्त्व से ही प्राप्त होती है। केवल तत्त्वज्ञ पुरुष ही पूर्णत: निर्दोष हो सकता है। ऐसे पूर्ण पुरुषों का निर्दोष होने का तात्पर्य क्या है? इन पूर्ण पुरुषों के द्वारा किसी का अहित नहीं होता है। जो भी व्यक्ति इनके सम्पर्क में आता है, उसे उन्नत करने की प्रक्रिया इनके जीवन में स्वाभाविक होती है। मनुष्य का अन्त:करण पूर्णत: पवित्र होकर, उसे तत्त्वज्ञान हो जाय, तभी उसके जीवन की सफलता है। तब हम कह सकते हैं कि उसका जीवन शुभ संस्कारों से पूर्ण है। अत: हमें अपने जीवन से दोषों को निकालना है और गुणों को वर्धित करना है।

❖ **(क्रमश:)** ❖

शिकागो की सफलता

स्वामी विदेहात्मानन्द

बॉस्टन से शिकागो

हमने देखा कि बॉस्टन में स्वामीजी ने स्वयं को एकाकी तथा असहाय पाया, क्योंकि उनके पास के पैसे तेजी से खर्च होते जा रहे थे और अमेरिका में भिक्षा माँगना असम्भव था। अत: उन्होंने सोचा कि स्वदेश लौट जाना ही उचित होगा और अपने भारतीय मित्रों को धन भेजने के लिये पत्र तथा टेलीग्राम भेजे। पर इसी दौरान एक ऐसी घटना हुई, जिससे उनका विचार बदल गया और सब कुछ क्रमश: अनुकूल होने लगा। स्वामी अभेदानन्द बताते हैं कि उस घोर संकट में उन्होंने सोचा – "मेरे गुरुदेव श्रीरामकृष्ण मेरे समक्ष आविर्भूत हों और निर्देश दें कि मेरा यहाँ ठहरना उचित होगा या नहीं। यदि वे 'नहीं' कहेंगे, तो स्वदेश लौट जाऊँगा। श्रीरामकृष्ण स्वप्न में मेरे सम्मुख आविर्भूत हुए और मुझे आश्वासन दिया। उनके आशीर्वाद से शीघ्र ही थॉमस कुक एंड सन के माध्यम से रुपये आ पहुँचे।"[१] भारत से आये करीब सात-आठ सौ रुपये तो उन्हें मिले ही, साथ ही कुछ ऐसे लोगों से परिचय हो गया, जिन्होंने उनके व्याख्यानों के आयोजन तथा शिकागो की महासभा में उनके योगदान की व्यवस्था का भार ले लिया। इस बात का संकेत प्राध्यापक राइट को लिखे उनके एक पत्र में भी मिलता है। वे लिखते हैं – "मैं अपने जीवन भर हर परिस्थिति को प्रभु से आती हुई मानकर शान्तिपूर्वक अंगीकार और तदनुसार स्वयं को समायोजित करता रहा हूँ। ... मुझे भय था कि कहीं मुझे प्रभु द्वारा परिचालित चिर-अभ्यस्त मार्ग को छोड़कर अपनी चिन्ता का भार स्वयं न लेना पड़े। परन्तु ... अब मैं समझ रहा हूँ कि जिन ईश्वर ने मुझे हिमालय के हिम-शिखरों और मैदानों की तपती भूमि पर पथ दिखलाया था, वे ही मेरी यहाँ भी सहायता कर रहे हैं। उन परम पिता की जय हो ! अब मैं पुन: चुपचाप अपने पुराने रास्ते पर चल रहा हूँ। कोई मुझे भोजन एवं आश्रय देता है; कोई मुझे उनके बारे में बोलने को कहता है। मैं जानता हूँ कि ये उन्हीं के भेजे हुए हैं और उनकी आज्ञापालन ही मेरा काम है। वे ही मेरी सारी जरूरतें पूरी करते हैं। उनकी इच्छा पूर्ण हो !"[२]

भारत में भी अवस्था के इस परिवर्तन की सूचना देते हुए स्वामीजी ने शिकागो से २ नवम्बर (१८९३)[३] को आलासिंगा के नाम अपने पत्र में लिखा – "कल तुम्हारा पत्र मिला। खेद है कि मेरे एक क्षणिक अविश्वास तथा दुर्बलता के कारण तुम लोगों को इतना कष्ट हुआ। इसके लिये मैं अत्यन्त दुखी हूँ। जब छबीलदास मुझे (बॉस्टन में) छोड़कर चले गये, तब मैंने स्वयं को इतना असहाय तथा नि:सम्बल महसूस किया कि निराश होकर तुम लोगों को तार भेज दिया। उसके बाद प्रभु की प्रेरणा से मुझे अनेक मित्र मिल गये। बॉस्टन के पास एक गाँव में हार्वर्ड विश्वविद्यालय में यूनानी भाषा के प्राध्यापक डॉ. राइट से मेरा परिचय हो गया। उन्होंने मेरे प्रति बड़ी सहानुभूति दिखायी और इस बात पर जोर दिया कि मैं धर्म-महासभा में जरूर जाऊँ, क्योंकि उनके विचार से उसके द्वारा मेरा परिचय पूरे अमेरिका से हो जायगा। चूँकि मेरी वहाँ किसी से जान-पहचान न थी, इसलिए प्राध्यापक महोदय ने मेरे लिए सारा प्रबन्ध करने का भार स्वयं पर ले लिया और उसके बाद मैं पुन: शिकागो आ गया। यहाँ एक सज्जन के मकान में धर्ममहासभा में आये हुए पूर्वी तथा पश्चिमी देशों के प्रतिनिधियों के साथ मेरे ठहरने का प्रबन्ध हो गया है।"[३]

बॉस्टन में ही स्वामीजी ने जब प्राध्यापक राइट को बताया कि उनके पास धर्म-महासभा में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करने के लिये परिचय-पत्र तो है ही नहीं, तो इस पर प्राध्यापक ने कहा था – "स्वामीजी, आपसे परिचय-पत्र की माँग करना तो वैसा ही है, मानो सूर्य से यह पूछना कि उसे चमकने का अधिकार किसने दिया है।" उन्होंने स्वामीजी को महासभा से जुड़े अनेक महत्त्वपूर्ण लोगों के नाम पत्र दिये और अपने एक मित्र – प्रतिनिधियों के चयन-मण्डल के अध्यक्ष को लिखा – "ये एक इतने महान् विद्वान् हैं कि हमारे सभी प्राध्यापकों को यदि एकत्र कर दिया जाय, तो वे सभी एक साथ मिलकर भी इनकी बराबरी नहीं कर सकेंगे।" उनके शिकागो के लिये प्राध्यापक ने स्वयं ही रेलगाड़ी का एक टिकट खरीदकर उनके हाथों में सौंप दिया था।

शिकागो पहुँचकर भी उन्हें काफी दिक्कतों का सामना करना पड़ा। परन्तु दैवयोग से उनकी वहाँ की एक प्रतिष्ठित

---

१. उद्बोधन (बँगला मासिक), नवम्बर २००६, पृ. ६६५; अथवा प्रबुद्ध-भारत (अंग्रेजी मासिक), अक्तूबर, १९९९ अंक

२. विवेकानन्द साहित्य, प्रथम संस्करण, खण्ड १, पृ. ४१०

३. वही, खण्ड २, पृ. ३०८-१३; तथा पत्रावली (बँगला), पृ. ९१

महिला श्रीमती जॉर्ज डब्ल्यू हेल से भेंट हुई, जो उन्हें धर्म-महासभा के अध्यक्ष डॉ. हेनरी बैरोज से मिलाने ले गयीं। डॉ. बैरोज ने हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में उनका पंजीकरण करा दिया और वहाँ के एक धनाढ्य नागरिक श्री जॉन बी. ल्योन के मकान में उनके ठहरने की व्यवस्था कर दी। अब स्वामीजी के चित्त में यह विश्वास सुदृढ़ हो गया कि ईश्वर ही उन्हें अपना यंत्र बनाकर उनका मार्ग-दर्शन कर रहे हैं।[४]

अनेक लोगों के मन में यह भ्रान्त धारणा फैली हुई है कि स्वामीजी ने शिकागो में 'शून्य' विषय पर भाषण दिया था। यह धारणा बिल्कुल ही निराधार है। स्वामीजी के स्वयं के साहित्य में तथा किसी भी अन्य प्रामाणिक ग्रन्थ में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। अत: यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि स्वामीजी ने 'शून्य' पर कोई भाषण नहीं दिया था, जो भाषण दिये थे, उनमें से अधिकांश के विषय तथा विवरण उपलब्ध हैं। आगे हम उनका कुछ विवरण प्रस्तुत करेंगे।

शिकागो धर्ममहासभा की पृष्ठभूमि

कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज के ४०० वर्ष पूरे होने के अवसर को अमेरिकावासियों ने बड़े समारोहपूर्वक मनाने की योजना बनायी। इस उपलक्ष्य में १८९२-९३ के दौरान एक ऐसे मेले का आयोजन किया गया, जैसा कि विश्व के इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था। इसके लिए शिकागो में मिशीगन झील के तट पर एक पूरी नयी बस्ती का निर्माण किया गया। मेले के माध्यम से पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में तब तक हुए उत्कर्ष की एक विराट् झाँकी प्रस्तुत की गयी थी। इसमें पाश्चात्य देशों के साथ ही अल्प विकसित देशों की सभ्यता-संस्कृति के भी उत्कृष्ट नमूनों को स्थान मिला था। इसकी भव्यता का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि छह महीनों तक चले इस मेले का विश्व के ७२ देशों के कुल २ करोड़ ७० लाख लोगों ने परिदर्शन किया था और अद्भुत संयोग यह है कि इस पर खर्च भी २ करोड़ ७० लाख डालर का आया था।

भौतिक जगत की इस प्रदर्शनी के साथ-ही-साथ मेले के आयोजकों ने सोचा कि इसमें मानव की वैचारिक जगत् की उपलब्धियों को भी स्थान मिलना चाहिए। इसके लिये श्रीयुक्त चार्ल्स कैरल बोनी की अध्यक्षता में 'वर्ल्डस कांग्रेस एग्जिलरी ऑफ कोलम्बियन एक्सपोजीशन' नाम से एक कमेटी का गठन हुआ और उसके अन्तर्गत २० अलग-अलग समितियाँ भी बनीं। १५ मई से २८ अक्तूबर १८९३ ई. के दौरान चले इनके अधिवेशनों में सामाजिक प्रगति, पत्रकारिता, चिकित्सा विज्ञान, नशीले पदार्थों का निषेध, कानून, समाज-सुधार, अर्थशास्त्र तथा धर्म आदि विषयों पर विशाल सभाएँ आयोजित हुईं। परन्तु इनमें हुए सैकड़ों व्याख्यान एवं चर्चाएँ आज विस्मृति के गर्भ में समा चुकी हैं, इसका एकमात्र अपवाद है धर्म-महासभा, जिसे आज भी पूरे भारत में तथा अन्यत्र भी याद किया जाता है। ११ से २७ सितम्बर के बीच सम्पन्न हुई यह सभा आज भी इसलिए महत्त्वपूर्ण व प्रासंगिक बनी हुई है कि इसी में भाग लेकर स्वामी विवेकानन्द जैसे एक अभूतपूर्व मनीषी ने इसे एक ऐतिहासिक आयाम प्रदान किया था। इस सभा में व्यक्त उनके विचार सुनकर पाश्चात्य जगत् हतप्रभ रह गया था और उसे यह बोध हुआ कि धर्म के क्षेत्र में विश्व को अब भी भारत से बहुत कुछ सीखना बाकी है।

महासभा का निहित उद्देश्य

ईसाई धर्म के प्रारम्भिक काल से ही मिशनरी-गण अपने धर्म को ही विश्व का एकमात्र सच्चा धर्म मानकर अन्य धर्मों को हेय दृष्टि से देखते थे। अमेरिका के मिशनरियों ने भारत के धर्म तथा समाज के विषय में अनेक मनगढ़न्त बातों को सचित्र पुस्तकों के माध्यम से प्रकाशित किया था और उनका प्रचार करके वे वहाँ के लोगों के मन में भारत के जंगली, पिछड़े तथा वीभत्स प्रथाओंवाले हिन्दुओं के विषय में करुणा का संचार किया करते थे। असभ्य भारतवासियों का धर्मान्तरण कर उनकी आत्मा का उद्धार करने हेतु वे दान के रूप में करोड़ों डालर भी एकत्र करते, जिसका अधिकांश भाग उनके ऐशो-आरामपूर्ण जीवन बिताने पर व्यय होता था। ऐसे ईसाई धर्माचार्यों ने विश्व के अन्य धर्मों को आमंत्रित कर उनकी तुच्छता तथा अपनी उत्कृष्टता प्रमाणित करने हेतु ही इस महासभा के आयोजन में सहमति प्रदान की थी। जब कट्टर ईसाइयों ने यह आपत्ति उठायी कि अन्य धर्मों को भी ईसाई धर्म के साथ ही समान आसन देना हमारे धर्म का अपमान होगा, तो इसका उत्तर देते हुए सभा की कार्यसमिति के अध्यक्ष रेवरेंड जॉन हेनरी बैरोज ने कहा था – "हमारा विश्वास है कि ईसाई धर्म अन्य सभी धर्मों का स्थान ले लेगा, क्योंकि बाकी धर्मों में जो सत्य है, वे सभी तो ईसाई धर्म में हैं ही, इसमें और भी अधिक सत्य है, क्योंकि एकमात्र यही धर्म एक अद्वितीय मुक्तिदाता ईश्वर के विषय में बताता है। माना कि प्रकाश के साथ अन्धकार की मित्रता सम्भव नहीं, परन्तु क्षीण आलोक के साथ तो उसका साहचर्य अवश्य ही हो सकता है।" फिर कैंटेबेरी के आर्यविशप ने तो महासभा में भाग लेने में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए लिख भेजा था, "मैं दूरी अथवा किसी अन्य कठिनाई के चलते असुविधा का अनुभव नहीं कर रहा हूँ, बल्कि इसका कारण यह है कि ईसाई धर्म ही एकमात्र धर्म है और मेरी समझ में नहीं आता कि अन्य आमंत्रित सदस्यों को समानता का दर्जा दिए बिना तथा उनके मतों व दावों की तुल्यता माने बिना, किस प्रकार ईसाई धर्म इस सभा के एक अंग के रूप में गृहीत होगा।"

---
४. विवेकानन्द : एक जीवनी, मायावती, प्रथम संस्करण, पृ. १२०-२

इन सब विरोधों तथा आपत्तियों के बावजूद धर्म महासभा का आयोजन हुआ और वह इस उद्देश्य के साथ कि इसमें अन्य धर्मों को पराजित तथा अपमानित कर ईसाई धर्म के विश्वविजय की घोषणा की जायगी। परन्तु इस सभा की सफलता के लिए हर तरह से योगदान करनेवाली अमेरिकी जनता ऐसे किसी भी दुराग्रह से मुक्त थी और उनका खुला तथा उदार दृष्टिकोण इस महासभा की सफलता का एक प्रमुख कारक सिद्ध हुआ। उपरोक्त पृष्ठभूमि के साथ देखने पर ही हम स्वामी विवेकानन्द द्वारा विश्वमंच पर सम्पादित उनके महान् कार्य का यथार्थ आकलन कर सकेंगे।

महासभा : एक विहंगावलोकन

भले ही यह विराट् सम्मेलन अमेरिका में आयोजित हुआ हो, परन्तु विश्व के प्रत्येक धर्म का उद्गम एशिया से ही हुआ है। इस सभा में सम्मिलित होनेवाले दस सम्प्रदायों में से यहूदी, पारसी, कैथलिक, प्रोटेस्टेंट तथा ग्रीक चर्च – इन पाँच का उद्भव पश्चिमी एशिया में हुआ है और हिन्दू, बौद्ध, जैन, शिन्तो तथा कम्फ्यूशियन – ये पाँच दक्षिण-पूर्व एशिया का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। यह भी एक बड़ी विचित्र बात थी कि विश्व का सबसे प्राचीन तथा सब धर्मों का मूल वैदिक या हिन्दू धर्म अपना कोई भी औपचारिक प्रतिनिधि वहाँ नहीं भेज सका था। भारत के कुछ राजाओं और मद्रास के कुछ युवकों के अनुरोध व सहयोग से स्वामी विवेकानन्द स्वाधीन रूप से महासभा में भाग लेने आ पहुँचे थे, पर उनके पास सभा में सम्मिलित होने का न तो निमंत्रण और न ही कोई परिचय-पत्र ही था। इतिहास का यह क्या ही रोचक विरोधाभास है कि जो व्यक्ति इस महासभा का नायक बननेवाला था और जिसके कारण यह सभा स्मरणीय बननेवाली थी, उसे असीम कठिनाइयाँ झेलने के बाद ही इसमें भाग लेने का अवसर मिला!

अन्तत: ११ सितम्बर, सोमवार का ऐतिहासिक दिवस आ पहुँचा। उसी दिन शिकागो आर्ट इंस्टीट्यूट के विशाल 'कोलम्बस-सभागार' में धर्म-महासभा का अधिवेशन शुरू हुआ। हॉल की गैलरी में चार हजार तथा द्वार के पास खड़े और भी अनेक श्रोता उत्सुकतापूर्वक सभा की कार्यवाही प्रारम्भ होने की बाट जोह रहे थे। उस समय यह जनसमुद्र इतना निस्पन्द तथा शान्त था कि एक प्रत्यक्षदर्शी के शब्दों में, ''जब एक छोटी-सी चिड़िया खुली खिड़की में प्रविष्ट होकर मंच के ऊपर से उड़कर चली गयी, तो उसके पंखों की आवाज तक साफ-साफ सुनाई दे रही थी।'' सभागार में मंच की लम्बाई करीब १०० फीट तथा चौड़ाई १५ फीट थी। मंच पर पीछे दीवाल से लगी दो यूनानी दार्शनिकों की विशाल मूर्तियाँ लगी हुई थीं और उसके भी दाहिनी ओर देवी सरस्वती के सदृश एक मूर्ति हाथ उठाए दण्डायमान थी। मंच के बीचो-बीच अमेरिका के प्रधान ईसाई धर्माचार्य के लिए एक भव्य सिंहासन और अन्य प्रतिनिधियों के लिए उसके दोनों ओर तीन कतारों में करीब ६० कुर्सियाँ लगी हुई थीं। प्रात:काल ठीक दस बजे विश्व के दस महान् धर्ममतों के सम्मान में दस बार घण्टा-ध्वनि हुई। तत्पश्चात् महासभा के कुछ प्रमुख अधिकारी तथा सभी धर्मों के प्रतिनिधि पंक्तिबद्ध होकर सभागार के मध्यवर्ती पथ से होकर मंच की ओर बढ़े और अपनी-अपनी कुर्सियों पर आसीन हो गये। स्वामी विवेकानन्द की कुर्सी की संख्या इकतीस थी।

स्वयं स्वामीजी के ही शब्दों में –''महासभा के उद्घाटन वाले दिन सुबह हम लोग 'आर्ट पैलेस' नामक भवन में एकत्र हुए।... सभी राष्ट्रों के लोग वहाँ आए हुए थे। भारत से ब्रह्मसमाज के प्रतिनिधि प्रतापचन्द्र मजुमदार थे, मुम्बई से नगरकर आए थे, जैन धर्म के प्रतिनिधि वीरचन्द गाँधी थे और श्रीमती बेसेंट तथा चक्रवर्ती थियॉसाफी का प्रतिनिधित्व कर रहे थे।... बड़े शानदार जुलूस के बाद हम लोग मंच पर बिठाए गए। कल्पना करो, नीचे एक हॉल और ऊपर एक बहुत बड़ी गैलरी, जिनमें इस देश के चुने हुए छह-सात हजार सुसंस्कृत नर-नारी खचाखच भरे हैं और मंच पर संसार के सभी राष्ट्रों के बड़े-बड़े विद्वान् एकत्र हैं। और मुझे, जिसने अब तक कभी सार्वजनिक सभाओं में भाषण नहीं दिया, इस विराट् जन-समुदाय के समक्ष बोलना होगा!

''बड़े समारोहपूर्वक संगीत तथा भाषणों के साथ सभा का उद्घाटन हुआ। तदुपरान्त सभा में आए प्रतिनिधियों का एक-एक करके परिचय दिया गया और वे सामने आ-आकर अपने भाषण देने लगे। मेरा हृदय धड़क रहा था और जिह्वा प्राय: सूख गई थी। मैं इतना घबराया हुआ था कि सबेरे बोलने की हिम्मत ही नहीं हुई। मजुमदार की वक्तृता सुन्दर रही। चक्रवर्ती की तो उससे भी सुन्दर रही। खूब तालियाँ बजीं। ये लोग अपने-अपने वक्तव्य तैयार करके लाए थे। मैं अबोध था, बिना किसी तैयारी के आ पहुँचा था।''

प्रात:कालीन सत्र में कई बार बुलाये जाने पर भी स्वामीजी टालते गये। अपराह्न में चार अन्य प्रतिनिधियों के लिखित भाषण हो जाने के बाद उन्हें पुन: बुलाया गया। स्वामीजी ने लिखा है, ''देवी सरस्वती को प्रणाम करके मैं आगे बढ़ा और डॉ. बैरोज ने मेरा परिचय दिया। मेरे गैरिक वस्त्रों के कारण श्रोताओं का ध्यान किंचित आकृष्ट हुआ था। अमेरिका-वासियों को धन्यवाद तथा और भी दो-एक बातें कहते हुए मैंने एक छोटा-सा वक्तव्य दिया। जब मैंने 'अमेरिकावासी बहनो तथा भाइयो' कहकर सभा को सम्बोधित किया, तो इसके साथ ही दो मिनट तक ऐसी घोर करतल-ध्वनि हुई कि कानों में अंगुली देते ही बनी। तब मैंने बोलना शुरू किया। और जब मैं अपना वक्तव्य समाप्त करके बैठा, तो भावावेग

से मानो मैं अवश हो गया था। अगले दिन सभी अखबारों में छपा कि उस दिन मेरा भाषण ही सर्वाधिक मर्मस्पर्शी बन पड़ा था। अत: पूरा अमेरिका मुझे जान गया। महान् टीकाकार श्रीधर स्वामी ने सत्य ही लिखा है – **मूकं करोति वाचालम्** – जिन प्रभु की कृपा गूंगे को भी धारा-प्रवाह वक्ता बना देती है, उनकी जय हो! उसी दिन से मैं विख्यात् हो गया और जिस दिन मैंने 'हिन्दू धर्म' पर अपनी वक्तृता पढ़ी, उस दिन तो हॉल में इतनी भीड़ हुई, जितनी पहले कभी नहीं हुई थी।''[५]

११ सितम्बर का वह ऐतिहासिक भाषण

इस घटना को हुए सौ वर्ष से भी अधिक हो चुके हैं। तभी से, भारत के कुछ अंचलों में न जाने कैसे यह भ्रान्ति फैल गयी है कि स्वामीजी ने शिकागो में शून्य पर भाषण दिया था। इस भ्रम के निराकरण की दृष्टि से उनके उस पहले दिन के परिचयात्मक भाषण को यहाँ पूरा-का-पूरा उद्धृत करना उचित होगा। स्वामीजी ने धर्मसभा में कहा था –

''आपने जिस सौहार्द तथा स्नेह के साथ हम लोगों का स्वागत किया है, उसके लिये आभार प्रकट करने हेतु खड़े होते हुए मेरा हृदय अवर्णनीय हर्ष से परिपूर्ण हो रहा है। संसार में संन्यासियों की सबसे प्राचीन परम्परा की ओर से मैं आपको धन्यवाद देता हूँ; धर्मों की माता की ओर से मैं आपको धन्यवाद देता हूँ; और सभी सम्प्रदायों तथा मतों के कोटि-कोटि हिन्दुओं की ओर से भी धन्यवाद देता हूँ। मैं इस मंच से बोलनेवाले उन वक्ताओं को भी धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने हम प्राच्य प्रतिनिधियों का उल्लेख करते हुए आपको बताया कि सुदूर देशों के ये लोग विविध देशों में सहिष्णुता का भाव प्रसारित करने में गौरव का दावा कर सकते हैं।

''मैं एक ऐसे धर्म का अनुयायी होने में गर्व का अनुभव करता हूँ, जिसने संसार को सहिष्णुता तथा सार्वभौम स्वीकृति – दोनों की ही शिक्षा दी है। हम लोग न केवल सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता में विश्वास करते हैं, अपितु हम सभी धर्मों को सच्चा मानकर उन्हें स्वीकार करते हैं। मुझे एक ऐसे देश का निवासी होने का अभिमान है, जिसने पृथ्वी के समस्त धर्मों और देशों के उत्पीड़ितों तथा शरणार्थियों को आश्रय दिया है। मुझे आपको यह बताते हुए गर्व होता है कि हमने अपने यहूदियों के विशुद्धतम अवशिष्ट अंश को अपने सीने में स्थान दिया है, जिन्होंने दक्षिण भारत में आकर उसी वर्ष शरण ली थी, जिस वर्ष उनका पवित्र मन्दिर रोमन जाति के अत्याचार से धूल में मिला दिया गया था। मैं एक ऐसे धर्म का अनुयायी होने में गर्व का अनुभव करता हूँ, जिसने महान् जरथुस्त्र (पारसी) जाति के अवशिष्ट अंश को शरण दी और जिसका पालन वह अब तक कर रहा है। भाइयो, मैं आप लोगों को एक स्तोत्र की कुछ पंक्तियाँ सुनाता हूँ, जिसकी आवृत्ति मैं अपने बचपन से करता रहा हूँ और जिसकी आवृत्ति प्रतिदिन लाखों लोग किया करते हैं –

रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।

– 'जैसे विभिन्न नदियाँ भिन्न-भिन्न स्रोतों से निकलकर एक ही समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे प्रभो, भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े-मेढ़े अथवा सीधे मार्गों से जानेवाले सभी लोग अन्त में तुम्हीं में जाकर विलीन हो जाते हैं।'

''यह सभा, जो अब तक आयोजित हुए सर्वश्रेष्ठ सम्मेलनों में से एक है, स्वत: ही गीता के इस अद्भुत उपदेश का प्रतिपादन तथा जगत् के प्रति उसकी घोषणा है –

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।

– 'चाहे जिस भी प्रकार से, जो कोई भी मेरी ओर आता है, मैं उसको प्राप्त होता हूँ। लोग भिन्न-भिन्न मार्गों से प्रयत्न करते हुए अन्त में मेरे ही पास आते हैं।'

''साम्प्रदायिकता, कट्टरता एवं उनकी बीभत्स पुत्री धर्मान्धता ने इस सुन्दर पृथ्वी पर काफी काल तक राज्य किया है। ये पृथ्वी को हिंसा से पूर्ण करती रही हैं, इसे बारम्बार मानवता के रक्त से नहलाती रही हैं, सभ्यताओं का विनाश और पूरे-के-पूरे देशों को निराशा के गर्त में डालती रही हैं। यदि ये बीभत्स राक्षसियाँ न होतीं, तो मानव-समाज आज की अवस्था से कहीं अधिक उन्नत हो गया होता। परन्तु अब वह समय आ गया है और मैं हार्दिक रूप से यह आशा करता हूँ कि आज सुबह इस सभा के सम्मान में जो घण्टा-ध्वनि हुई है, वह धर्मान्धता का, तलवार या लेखनी द्वारा होनेवाले सभी उत्पीड़नों का और एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होनेवाले मनुष्यों की आपसी कटुताओं का मृत्यु-निनाद सिद्ध हो।''[६]

महासभा का अधिवेशन ११ से २७ सितम्बर तक चला था। इसके मुख्य सत्रों में स्वामीजी द्वारा प्रदत्त छह व्याख्यानों के कुछ विवरण प्राप्त हैं। इनके सिवा इसकी विज्ञान शाखा में भी उनके करीब ८ भाषण हुए थे, जिनकी पूरी जानकारी नहीं मिलती। इन व्याख्यानों में १९ सितम्बर को पठित 'हिन्दू धर्म' पर उनका निबन्ध सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था।

इस निबन्ध में स्वामीजी ने संक्षेप में हिन्दुओं के सृष्टि-तत्त्व, मनोविज्ञान तथा धर्ममत का परिचय दिया था। इसमें उन्होंने मुख्यत: आत्मा का दिव्यत्व, जीवन का अखण्डत्व, ईश्वर का एकत्व एवं सभी धर्मों के समत्व पर प्रकाश डाला। उस निबन्ध में उन्होंने बताया था कि विभिन्न कालों में आविष्कृत सत्यों के संकलन को 'वेद' कहते हैं और हिन्दू धर्म इन वेदों पर टिका है। वैदिक सत्यों के आविष्कारक 'ऋषि' कहलाते थे। उन्होंने हिन्दू धर्म को सर्वग्राही बताते

५. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ. ३०८-१३

६. विवेकानन्द साहित्य, प्रथम संस्करण, खण्ड १, पृ. ३-४

हुए कहा – "आधुनिक विज्ञान के नवीनतम आविष्कार जिसकी केवल प्रतिध्वनि मात्र प्रतीत होते हैं, ऐसे वेदान्त-दर्शन की अति उच्च उड़ानों से लेकर, मूर्तिपूजा के निम्नस्तरीय विचारों तथा उससे जुड़ी असंख्य पौराणिक दन्तकथाओं तक, और बौद्धों के अज्ञेयवाद तथा जैनों के निरीश्वरवाद – इनमें से प्रत्येक के लिये हिन्दू धर्म में स्थान है।"

उन्होंने बताया कि हिन्दू का यह विश्वास है कि वह आत्मा है। वह स्वरूपत: नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव है। उसे शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि दग्ध नहीं कर सकती, जल भिगो नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकती। उसके लिये मृत्यु का अर्थ है एक शरीर से दूसरे शरीर में चले जाना। परन्तु किसी कारण यह चैतन्य आत्मा स्वयं को जड़ से बँधी हुई पाती है, स्वयं को जड़ समझ बैठती है। क्या उसके लिये इस जड़ के बन्धन से मुक्त होकर अपने चेतन स्वरूप को पा लेना सम्भव है? अवश्य है। उन्होंने आशा की वाणी सुनाते हुए कहा – "अमृत के पुत्रो – कैसा मधुर और आशाजनक सम्बोधन है यह! बन्धुओ! मैं इसी मधुर नाम से तुम लोगों को सम्बोधित करना चाहता हूँ। तुम अमृत के अधिकारी हो। हिन्दू तुम्हें पापी कहने से इनकार करता है। तुम तो ईश्वर की सन्तान हो, चिर आनन्द के भागीदार हो – पवित्र और पूर्ण हो। तुम मृत्युलोक के देवता हो! तुम और पापी? मनुष्य को पापी कहना ही महापाप है। मानव के यथार्थ स्वरूप पर यह घोर लांछन है। उठो सिंहो! आओ और इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर कर दो कि तुम भेंड़ हो। तुम हो अजर आत्मा, मुक्त आत्मा – नित्य आनन्दमय। तुम जड़ नहीं हो, शरीर नहीं हो; जड़ तो तुम्हारा दास है, तुम जड़ के दास नहीं।"

ईश्वर का स्वरूप बताते हुए उन्होंने कहा – "वे सर्वव्यापी, शुद्ध, निराकार और सर्वशक्तिमान हैं – सबके ऊपर उनकी दया है।... ईश्वर की कृपा होने पर ही यह बन्धन टूट सकता है और उनकी कृपा पवित्र-हृदय लोगों पर ही होती है।... ज्ञानी हिन्दू आत्मा और ईश्वर के बारे में सर्वोत्कृष्ट प्रमाण के रूप में कहते हैं, 'मैंने आत्मा का दर्शन किया है, मैंने ईश्वर को देखा है।'... हिन्दू धर्म कुछ मतवादों या सिद्धान्तों में विश्वास की चेष्टा तक सीमित नहीं है, उसका मूलमंत्र प्रत्यक्ष अनुभूति है; यह केवल विश्वास नहीं – होना और बनना है।"

उन्होंने बताया कि संसार के विभिन्न स्तर के लोगों के लिये आचार, अनुष्ठान, पूजा, प्रार्थना आदि भी उपयोगी हैं, पर अनिवार्य नहीं; मन को एकाग्र करने के लिए मूर्तिपूजा या प्रतीकों की भी जरूरत है। विभिन्न धर्मों तथा सम्प्रदायों की एकता के बारे में उन्होंने कहा – "विविधता में एकता ही प्रकृति का विधान है और हिन्दू इसे समझते हैं। अन्य धर्मों में कुछ निश्चित मतवाद विधिबद्ध कर दिए गए हैं और पूरे समाज से उन्हें बलपूर्वक मनवाया जाता है।... हिन्दुओं की दृष्टि में समग्र धर्म-जगत् भिन्न भिन्न रुचिवाले नर-नारियों की, विभिन्न अवस्थाओं तथा परिस्थितियों से होकर उस एक ही लक्ष्य की ओर अग्रगति मात्र है।" इस प्रकार विश्व के सभी धर्मों का एक महासमन्वय प्रस्तुत करने के बाद, स्वामीजी ने कहा – "एक ऐसा धर्म प्रस्तुत करो और सारे राष्ट्र तुम्हारे अनुयायी बन जाएँगे। अशोक की धर्मसभा केवल बौद्ध धर्म के लिए हुई थी अकबर की धर्मसभा उस उद्देश्य से अधिक निकट होने के बावजूद घरुआ चर्चा मात्र थी। पर पूरे विश्व में यह घोषणा करने का गौरव अमेरिका के लिए ही सुरक्षित था कि 'हर धर्म में ईश्वर का अस्तित्व है।' जो हिन्दुओं के ब्रह्म, पारसियों के अहुर्मज्दा, बौद्धों के बुद्ध, यहूदियों के जिहोवा और ईसाइयों के स्वर्गस्थ पिता हैं, वे तुम्हें अपने महान् भाव को कार्य रूप में परिणत करने की शक्ति प्रदान करें।"[७]

स्वामीजी के इस व्याख्यान के महत्त्व का आकलन करते हुए भगिनी निवेदिता लिखती हैं – "धर्म-महासभा में प्रदत्त स्वामीजी के भाषण के बारे में कहा जा सकता है कि जब उन्होंने शुरू किया, तो उनका विषय था – 'हिन्दुओं के धार्मिक विचार', परन्तु जब उनका भाषण समाप्त हुआ, तो नवीन हिन्दू धर्म की सृष्टि हो चुकी थी,... क्योंकि वहाँ पर स्वामी विवेकानन्द के अधरों से जो शब्द उच्चरित हुए उनमें ... भारत की आध्यात्मिक चेतना – उसके पूरे अतीत द्वारा निर्धारित सम्पूर्ण देशवासियों का सन्देश ही उनके माध्यम से मुखरित हो उठा था।... स्वयं भारत के लिए यह छोटा-सा भाषण स्वाधिकार-स्थापना का एक संक्षिप्त दस्तावेज है।"[८]

महासभा के अन्तिम दिन २७ सितम्बर को स्वामीजी ने अपने विदाई भाषण के अन्त में कहा – "यदि इस महासभा ने जगत् के समक्ष कुछ प्रदर्शित किया है तो वह यह है – इसने यह सिद्ध कर दिया है कि साधुता, पवित्रता और दया-शीलता किसी सम्प्रदाय-विशेष की बपौती नहीं है तथा हर धर्म में ही अति उन्नत चरित्र के नर-नारियों का जन्म हुआ है। इन सारे प्रत्यक्ष प्रमाणों के बावजूद यदि कोई ऐसा स्वप्न देखे कि केवल उसी का धर्म टिका रहेगा और अन्य सारे धर्म नष्ट हो जाएँगे, तो वह वस्तुत: दया का पात्र है; मैं उसके लिए हृदय से दुखी हूँ और उसे स्पष्ट रूप से बता देता हूँ कि सभी प्रतिरोधों के बावजूद शीघ्र ही प्रत्येक धर्म की पताका पर लिखा होगा – 'युद्ध नहीं – सहायता; विनाश नहीं – ग्रहण; मतभेद और कलह नहीं – समन्वय और शान्ति'।"[९]

❖ (क्रमश:) ❖

७. वही, प्रथम संस्करण, खण्ड १, पृ. ७-२१

८. युगनायक विवेकानन्द, स्वामी गम्भीरानन्द, प्रथम संस्करण, खण्ड २, पृ. ३९-४०

९. वही, खण्ड १, पृ. २६-२७
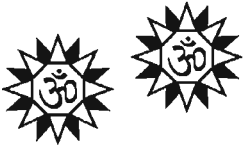
स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण
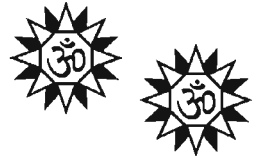
कामाख्या नाथ मित्र

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

१८९७ ई. में मैंने बी. ए. पास किया और उसी वर्ष मुझे विश्वविख्यात संन्यासी तथा युग-निर्माता स्वामी विवेकानन्द के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय वे कोलकाता में श्रीरामकृष्ण के शिष्यों में सुपरिचित महान् भक्त श्री बलराम बोस के घर में ठहरे हुए थे। मैं स्वामीजी से इसलिये मिलने गया था, क्योंकि मैं उनके सन्देश में गहरी रुचि रखता था, वैसे तब तक उस सन्देश की महत्ता मेरे लिये पूर्णत: स्पष्ट नहीं हो सकी थी।

यहाँ पर मेरी इस अभिरुचि की थोड़ी व्याख्या आवश्यक प्रतीत होती है। बचपन से ही मेरा काफी कुतूहली स्वभाव था और धर्म-विषयक प्रश्नों की ओर मेरे मन का विशेष आकर्षण था। जैसे आजकल हमारे देशवासियों की प्रमुख अभिरुचि राजनीति में है, वैसे ही मेरे बचपन के दिनों में लोगों की प्रमुख अभिरुचि धर्म में थी। वह महान् धार्मिक आन्दोलनों तथा वाद-विवाद का युग था। उस क्षेत्र में निरन्तर क्रिया-प्रतिक्रिया का खेल चलता रहता था। एक ओर तो ब्राह्मसमाज का ज्वार उठ रहा था, जिसके साथ अधिकांश बुद्धिजीवियों की सहानुभूति जुड़ी हुई थी। और दूसरी ओर तथाकथित पुरातनपन्थियों द्वारा भी हिन्दू धर्म की छद्म-वैज्ञानिक तथा काल्पनिक व्याख्याओं के द्वारा उसे पुन: प्रतिष्ठित करने का प्रयास चल रहा था।

इसके अतिरिक्त अनेक शिक्षित लोग थियॉसाफी और उसके महात्माओं, रहस्यविद्या तथा प्रेतात्म-जगत् के प्रति भी आकृष्ट हो रहे थे। कारण यह था कि ये लोग ब्राह्मसमाज को उसके पाश्चात्य दृष्टिकोण के लिये पसन्द नहीं करते थे और फिर अमेरिका के कर्नल आल्काट तथा इंग्लैंड की श्रीमती एनी बेसेंट के मुख से हिन्दुओं की हर चीज की निर्विचार प्रशंसा सुनकर स्वयं को गौरवान्वित महसूस करते थे। इसके साथ ही यह भी बता देना उचित होगा कि बड़ी संख्या में उच्च शिक्षा प्राप्त युवक मिल, काम्टे, स्पेंसर, हक्सले तथा हैकेल जैसे स्वाधीन चिन्तकों, युक्तिवादियों या अज्ञेयवादियों के अनुयायी थे और सभी धर्मों को समान रूप से मिथ्या मानते थे।

ऐसे ही बौद्धिक परिवेश में मेरे बचपन तथा युवावस्था के दिन बीते। बड़े लोग जब इन विषयों पर चर्चा करते, तो मैं उन्हें सुनता और कभी-कभार उनमें सम्मिलित भी हो जाता। धर्म, मेरे लिये अब तक अन्तरात्मा की खोज नहीं, अपितु एक बौद्धिक अभिरुचि का विषय था। यद्यपि मेरा जन्म एक सनातनी हिन्दू परिवार में हुआ था, तथापि ब्राह्म-समाज तथा एक घोर अज्ञेयवादी सम्बन्धी का ही मुझ पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। ब्राह्मसमाज के सामाजिक कार्यक्रमों के साथ मेरी पूर्ण सहानुभूति थी, पर मैं उनके धर्म-विषयक विचारों को स्वीकार नहीं कर सकता था। ब्राह्मधर्म तथा अज्ञेयवाद – इन दो शक्तियों के बीच मेरा मन दोलायमान था।

ऐसी ही मन:स्थिति के बीच मैं अपनी स्कूली शिक्षा पूरी करके कॉलेज में प्रविष्ट हुआ। यदि मेरी याददाश्त सही है, तो जब मैं अपनी प्रथम वर्ष की कक्षा में था, तभी मैंने पहली बार श्रीरामकृष्ण का नाम सुना – अपने किसी देशवासी से नहीं, बल्कि एक विदेशी – स्वयं प्राध्यापक मैक्समूलर जैसे व्यक्ति के माध्यम से। मैंने 'नाइंटीन्थ सेंचुरी' पत्रिका में उनके दो लेख पढ़े, जिनमें एक था 'Esoteric Buddhism' (रहस्यवादी बौद्धधर्म)। जिसमें मादाम ब्लावस्ट्की तथा उनके थियॉसाफी की कटु आलोचना की गयी थी; और दूसरा लेख था – 'A Real Mahatman' (एक सच्चे महात्मा)। ये सच्चे महात्मा अन्य कोई नहीं, स्वयं भगवान रामकृष्ण ही थे। मेरे सामने एक नया क्षितिज उन्मुक्त हुआ, एक नयी ज्योति आलोकित हो उठी। यह सब कुछ मेरे एक छोटे-से नगर में निवास के दौरान हुआ। इसके करीब एक वर्ष बाद मैंने शिकागो में आयोजित हुए सुप्रसिद्ध धर्म-महासभा और उसमें स्वामी विवेकानन्द के अभूतपूर्व विजय के बारे में सब कुछ पढ़ा। ये स्वामी विवेकानन्द कौन हैं? शीघ्र ही मुझे ज्ञात हुआ कि वे प्राध्यापक मैक्समूलर द्वारा वर्णित 'सच्चे महात्मा' श्रीरामकृष्ण के प्रमुख शिष्य हैं। मैं उनके तथा उनके सन्देश के विषय में सब कुछ जानने को उत्सुक हो उठा। बाद में उनके भारत लौटने पर जब एक विश्व-विजयी वीर के उपयुक्त सत्कार करने को सम्पूर्ण

कोलकाता उमड़ पड़ा था, तब दुर्भाग्यवश मैं नगर में उपस्थित न था। परन्तु मैंने उस घटना के जीवन्त विवरण पढ़े और उससे मुझे लगा कि भारतीय भूमि पर ऐसा सम्मान अब तक किसी भी व्यक्ति को प्राप्त नहीं हुआ था।

उसके बाद मैंने पूरे भारत में हुए उनके सभी भाषणों के विवरण पढ़े। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो भारत की अन्तरात्मा ही उनकी उक्तियों के माध्यम से अभिव्यक्त हो रही है। ऐसा तेज और ऐसी शक्ति मेरी सर्वोच्च कल्पना के भी अतीत था। मैंने केशवचन्द्र सेन के कई भाषण पढ़े थे और उनकी शैली, वाग्विदग्धता तथा धार्मिक भावों का महान् प्रशंसक था; पर स्वामीजी की बात बिल्कुल ही भिन्न थी। उनके विचारों में मुझे एक ऐसा नया भाव, नया दृष्टिकोण देखने को मिला, जो राष्ट्रीय होने के साथ ही सार्वभौमिक भी था। उनके हिन्दू धर्म में उसके सारे पहलू विद्यमान थे, परन्तु यह भारत के संकीर्ण सनातनियों, शास्त्र की दुहाई देनेवाले पुरातनपन्थियों तथा छद्म-पुनरुत्थानवादियों के हिन्दू धर्म से कितना भिन्न था! मैं उन पर मुग्ध था। कोलकाता में बी.ए. के छात्र के रूप में मुझे उनके दो व्याख्यानों ने सर्वाधिक प्रभावित किया – एक तो कोलकाता के टॉउन हॉल में प्रदत्त उनके व्याख्यान ने और दूसरा लाहौर के वेदान्त विषयक प्रवचन ने।

मैं उनके साथ भेंट करने के लिये उत्सुकता के साथ अवसर की प्रतीक्षा करता रहा और वह अवसर १८९७ ई. में उपस्थित हुआ। मैं अपने सहपाठी नरेन्द्र कुमार बोस के साथ श्रीयुत् बलराम बोस के कोलकाता स्थित भवन में स्वामी विवेकानन्द से मिलने गया।

हम लोगों ने एक हॉल में प्रवेश किया, जिसमें इतने लोग थे कि तिल रखने को भी जगह न थी। वहाँ एकत्र लोगों में अधिकांशत: कोलकाता के कॉलेजों के छात्र ही थे। वे सभी फर्श पर बिछी हुई चटाइयों पर पालथी मारकर बैठे हुए थे। बीच में स्वामीजी के लिये एक आसन लगा हुआ था। हमने किसी प्रकार हॉल में अपने लिये जगह बनाई और उत्सुकतापूर्वक स्वामीजी के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। पूर्ण शान्ति छायी हुई थी। कुछ मिनटों के बाद स्वामीजी ने हॉल में प्रवेश किया। उनकी चाल सिंह-जैसी और व्यक्तित्व की गरिमा राजाओं के समान थी। उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट तथा बलिष्ठ था। वे एक गैरिक लबादा पहने हुए थे, पाँव नंगे थे और मस्तक मुण्डित तथा दाढ़ी आदि साफ थी – कुल मिलाकर वे एक प्रभावी व्यक्तित्व के धनी थे। उन्हें देखते ही लगता था मानो उन्होंने नेतृत्व करने के लिये ही जन्म लिया हो। वे तत्काल आसन पर बैठ गये और एक बार नजर घुमाकर हम सबकी ओर देख लिया। उनकी बड़ी-बड़ी आँखें प्रतिभा तथा आध्यात्मिक ज्योति से चमक रही थीं। वे अंग्रेजी-मिश्रित बँगला भाषा में बोले। उनके होठों से शब्द-प्रवाह नि:सृत हो रहा था और हम लोग पूर्ण मनोयोग के साथ उन्हें सुन रहे थे। उनका प्रत्येक शब्द अग्नि के एक स्फुलिंग के समान था। वे बड़े आवेशपूर्वक बोलते थे। सबको यह स्पष्ट रूप से समझ में आ गया कि उन्होंने जगत् को एक सन्देश देने के लिये जन्म लिया है। सबमें चेतना जगाने की उनमें अद्‌भुत क्षमता थी। उनकी बातें सुनकर हमें अपने भीतर प्रेरणा का अनुभव हुआ। हमारे भीतर एक नई चेतना का संचार हुआ। संशय के इस युग में वे एक व्यक्ति थे, जिनमें श्रद्धा-विश्वास कूट-कूटकर भरा था और जो आध्यात्मिक शक्ति के मानो एक डायनेमो थे। उनका दर्शन करना अपने आप में एक शिक्षा थी। उनकी बातें सुनना प्रेरणा का मूल था। यह मेरे जीवन का सर्वाधिक स्मरणीय दिन था और मेरे लिये इसे भूल पाना असम्भव है।

उन्होंने हम लोगों से क्या कहा? – बलवान तथा आत्म-विश्वासी बनने को कहा, त्याग और सेवा करने को कहा। शक्ति ही उनका प्रमुख सन्देश था। 'नकारात्मक शिक्षा-प्रणाली' पर कठोर प्रहार करते हुए उन्होंने बड़े उत्साहपूर्वक मनुष्य-निर्मात्री शिक्षा पर बल दिया। उन्होंने भारत के अध:पतन तथा आम जनता की दुरवस्था का सजीव चित्रण किया। निर्धनों, पतितों तथा दलितों के प्रति उनकी कैसी अद्‌भुत संवेदना थी! उस संवेदना का लाखवाँ भाग भी यदि हममें आ जाये, तो तत्काल पूरे देश की कायापलट हो जायेगी। वे हिन्दू धर्म की महानता का बखान करने लगे और बोले – "हिन्दू विचारों द्वारा विश्व-विजय – उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक सर्वत्र हिन्दुओं को देखना ही मेरी महत्त्वाकांक्षा है।" जब वे इन शब्दों का उच्चारण कर रहे थे, तो ऐसा लगा मानो मैं धर्मजगत् के सच्चे नेपोलियन को देख रहा हूँ। मैंने संन्यासी के गैरिक वस्त्रों के भीतर एक योद्धा का हृदय स्पन्दित होते देखा। इन स्वामी विवेकानन्द को मैंने एक दीन-हीन हिन्दू के रूप में नहीं, अपितु अपने जीवन के सर्वाधिक आक्रामक हिन्दू के रूप में देखा। वे उसी धातु के बने थे, जिससे सिकन्दर तथा सीजर का निर्माण हुआ था – केवल उनकी भूमिका का क्षेत्र इन लोगों से पृथक् था।

उनके कुछ शब्द मेरे कानों में अब भी गूँज रहे हैं – "तुम्हारी नसें फौलाद की और मांसपेशियाँ लोहे के समान सबल हों। जड़ता-युक्त वर्षों जीने की अपेक्षा क्षण भर का तेजस्वी जीवन भी श्रेयस्कर है। कायर व्यक्ति अपनी मृत्यु के पूर्व भी कई बार मरता है। एक मिथ्याचारी धार्मिक की अपेक्षा एक ईमानदार नास्तिक होना हजारों गुना बेहतर है। ईर्ष्यालु मत बनो, क्योंकि गुलाम ही ईर्ष्यालु होते हैं। वर्चू (Virtue) का अर्थ है वीरता। अंग्रेजी का वर्चू (Virtue) शब्द लैटिन के वीर (Vir) शब्द से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है मनुष्य और यही वीर शब्द संस्कृत में भी है।"

करीब दो घण्टे बाद स्वामीजी उठकर हॉल से चले गये और हम लोग भी निकलकर अपनी-अपनी दिशाओं में चल पड़े। मैं अपने निवास पर लौट आया, पर मुझे सर्वत्र स्वामीजी की वाणी ही प्रतिध्वनित होती सुनाई दे रही थी। मैं स्वामी विवेकानन्द के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं सोच पा रहा था। मैं जिस ओर भी देखता, उन्हीं की ओजस्वी मूर्ति दीख पड़ती थी।

उनका पुन: दर्शन करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सका और इसीलिये मैं अगले दिन फिर श्रीयुत् बलराम बोस के घर जा पहुँचा। आज वहाँ कोई ज्यादा भीड़ नहीं थी। स्वामीजी बरामदे में बिछी हुई एक चटाई पर अपने गुरुभाइयों से घिरे बैठे थे। उनमें से कोई एक शांकर भाष्य के साथ ब्रह्म-सूत्रों का पाठ कर रहा था और स्वामीजी बीच-बीच में उसकी व्याख्या कर रहे थे। आज का परिवेश बिल्कुल ही भिन्न था। सब कुछ अत्यन्त शान्त था। पाठ समाप्त होने के बाद ही स्वामीजी के एक गुरुभाई ने प्रेत-जगत् का प्रसंग उठाया और थियॉसाफी के एक ग्रन्थ से एक उद्धरण पढ़कर सुनाया। स्वामीजी ने उनके साथ बड़ी कठोरता का व्यवहार किया और उन्हें बिल्कुल चुप करा दिया। मैं समझ गया कि स्वामीजी भूत-प्रेतवाद के घोर विरोधी हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से बताया कि ये सब बातें मनुष्य को दुर्बल बनाती हैं और वास्तविक धर्म के साथ इनका जरा भी सम्बन्ध नहीं है। इसके बाद अनेक हल्के-फुल्के विषयों पर बातें हुईं और स्वामीजी एक शिशु के समान व्यंग-विनोद करने लगे। उनकी आज की मन:स्थिति बिल्कुल ही भिन्न थी। मैंने मन-ही-मन सोचा – जिन्हें कल मैंने अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक दहाड़ते हुए देखा था, क्या ये वे ही स्वामीजी हैं?

इसके करीब साल भर बाद एक बार फिर मेरी स्वामीजी से भेंट हुई और कोलकाता के स्टार थियेटर के मंच पर हुई। इस बार मेरे समक्ष वक्ता स्वामी विवेकानन्द थे। यह वह अवसर था, जब कोलकाता की जनता के साथ भगिनी निवेदिता का परिचय कराया गया। हॉल लोगों से ठसाठस भरा हुआ था। मंच पर अनेक गण्यमान्य व्यक्ति बैठे हुए थे, परन्तु उनमें से मुझे केवल सर जगदीश बोस तथा सर आनन्द चार्लू की ही याद है। उस दिन मुझे स्वामीजी का सर्वोत्कृष्ट रूप देखने को मिला। उन्होंने गेरुए रंग की एक पगड़ी और उसी रंग का एक ढीला-ढाला वस्त्र पहन रखा था। उन्होंने एक संक्षिप्त पर मार्मिक व्याख्यान के द्वारा भगिनी निवेदिता का परिचय कराया। भगिनी ने भी अपनी मोहक शैली में सभा को सम्बोधित किया। इसके बाद स्वामीजी फिर उठे और अपनी विदेश-नीति पर बोले। उन्होंने पश्चिमी देशों में अपने भावी प्रचार-कार्य की एक योजना प्रस्तुत की। व्याख्यान* तेज से परिपूर्ण था। वैसी भरी हुई आवाज, उच्चारण की विविधता, प्रबल तथा मधुर ध्वनि और बीच-बीच में बिजली की कड़क के समान भावनाओं का विस्फोट – ऐसी वाणी मुझे न तो कभी अपने जीवन में सुनने को मिली थी और न भविष्य में कभी सुनने की आशा रखता हूँ। बोलते समय कभी वे अपने बाहुओं को छाती पर मोड़े हुए मंच पर चहलकदमी करते और कभी श्रोताओं के समक्ष खड़े होकर हस्त-संचालन करते। उनके विचार किसी उन्मुक्त पहाड़ी झरने के समान स्वच्छन्द तथा तीव्र वेग से प्रवाहित हो रहे थे। उनके शब्द एक जलप्रपात के गर्जन के समान थे। 'द न्यूयार्क हेराल्ड' ने ठीक ही लिखा था – "वे एक दैवी अधिकार प्राप्त वक्ता हैं।" कुल मिलाकर उनसे बढ़कर भव्य, गौरवशाली तथा चौम्बकीय व्यक्तित्व हमारे लिये कल्पनातीत है। हमने मंत्रमुग्ध होकर उनका वक्तव्य सुना। उनका प्रत्येक शब्द तीर के समान हृदय में प्रविष्ट हो जाता था।

स्वामीजी के विषय में ये ही मेरी स्मृतियाँ हैं। उनके आदर्श को समझने हेतु बाद में मैंने उनके सभी व्याख्यानों तथा रचनाओं को पढ़ा और उनके गुरुदेव के विषय में सब कुछ पढ़ा। हमारे व्यक्तिगत, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन की ऐसी कोई भी समस्या नहीं है, जिसे उन्होंने अपने विचार के द्वारा आलोकित न किया हो। उन्होंने पूरे देश को एक नयी चेतना प्रदान की। मेरी दृष्टि में तो वे अपने स्वाधीनता, बल, निर्भयता तथा आत्म-विश्वास के सन्देश के साथ साल-दर-साल अधिकाधिक जीवन्त और टेनेरिफ या एटलस के समान क्रमश: वृद्धि को प्राप्त होते जा रहे हैं। उन्होंने एक नये रूप में, आधुनिक शब्दावली में हमारे धर्म के चिरन्तन सत्यों का ही प्रचार किया और उन्होंने यह भी बताया है कि भारत तथा विश्व की वर्तमान परिस्थितियों में किस प्रकार इन सत्यों का उपयोग किया जायेगा। उनसे बढ़कर सकारात्मक विचारक तथा प्रेरणादायी शिक्षक मैंने अपने जीवन में नहीं देखा। जहाँ तक मैं जानता हूँ, इस सदी में ऐसा एक भी आत्म-बलिदानी भारतीय कर्मी नहीं मिलेगा, जो उनके विचारों, शब्दों तथा जीवन के द्वारा थोड़ा-बहुत प्रभावित न हुआ हो। अन्य किसी से भी अधिक उन्होंने भारत को विदेशों में सम्मान दिलाया। अनेक पाश्चात्य लोगों ने उनके सन्देश में अपने इहलोक तथा परलोक के लिये आश्रय प्राप्त किया है। वैसे वर्तमान में राजनीति ही हमारे देश का मुख्य विषय बन गया है, पर उत्कृष्ट मनस्वी, स्वामी विवेकानन्द के साथ इस बात पर सहमत हैं कि आध्यात्मिकता ही हमारे समस्त क्रिया-कलापों का आधार होना चाहिये। यह

(शेष अगले पृष्ठ पर)

मातृ-दर्शन की स्मृति

स्वामी प्रभवानन्द

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

मेरे जन्मस्थान विष्णुपुर से माँ का गाँव – जयरामबाटी की दूरी लगभग २० मील थी। कोलकाता से अपने गाँव जयरामबाटी जाते समय उन्हें हमारे छोटे-से नगर के बीच से होकर जाना पड़ता था। एक दिन शाम को हम दो मित्र घूमने निकले थे। तब हमारी आयु १४-१५ साल रही होगी। एक सराय के पास देखा, वहाँ एक गैरिक वस्त्रधारी संन्यासी और उनके आस-पास कुछ महिलायें खड़ी हैं। उन्हें इतनी महिलाओं से घिरी देखकर हम लोग आपस में उन संन्यासी की आलोचना करते हुए आगे बढ़े।

परन्तु मेरे मन में उन साधु के बारे में कुछ और जानने की जिज्ञासा हुई। इसलिये मित्र के घर लौट जाने के बाद मैंने वापस जाकर उन संन्यासी को प्रणाम किया। उन्होंने पूछा – "क्या तुम श्रीमाँ का दर्शन करना चाहोगे?" मैंने 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' पढ़ रखा था, इसलिये यह बात सुनते ही मैं खूब उत्साहित हो उठा। बोला – "अर्थात् रामकृष्ण परमहंसदेव की पत्नी?" माँ कुछ ही फीट की दूरी पर बैठी थीं। साधु हँसकर बोले – "वह देखो, माँ बैठी हैं, जाकर प्रणाम करो।" मैंने माँ के सामने प्रणत होकर उनके चरण छूकर प्रणाम किया। वे मेरी ठुड्डी का स्पर्श करके अपने हाथ को चूमती हुई बोलीं – "बेटा, मैंने तुम्हें क्या पहले नहीं देखा है?" मैं बोला – "नहीं माँ।" इस प्रकार मैंने माँ का पहली बार दर्शन किया। उस समय मैं भला कैसे जान सकता था कि वे ही जगदम्बा हैं और अपनी सभी सन्तानों को जानती हैं।

कोलकाता विश्वविद्यालय में पढ़ाई करते समय मैं जब भी कोलकाता जाता, तो हर शनिवार को जिस समय पुरुष लोग माँ को प्रणाम करते, उस समय मैं भी माँ को प्रणाम करने जाता। केवल माँ को प्रणाम करने के लिये ही लम्बी लाइन लग जाती। उस समय भी माँ के प्रति मेरे मन में वैसा कुछ श्रद्धा का भाव नहीं आया था और न मैं उनका महत्त्व ही समझता था। लेकिन फिर भी मैं जाता, क्योंकि जितनी बार मैं अपनी दो उँगलियों से उनके चरण स्पर्श करता, उतनी ही बार मुझे निश्चित रूप से एक अद्भुत अनुभूति होती – मानो बिजली का झटका जैसा लगता। विद्युत प्रवाहित हो रहे तार पर हाथ पड़ जाने पर हम लोग झटका खाकर दूर जा गिरते हैं, परन्तु यह एक अत्यन्त मधुर अनुभूति थी और इसके बाद ही मेरे मन को एक तरह की परम शान्ति की अनुभूति होती। उस समय मेरी आयु १६-१७ वर्ष थी और तब मैं उस शान्ति के भाव को ठीक-ठीक समझ नहीं पाता।

सुना था कि माँ के गाँव के घर जाने पर उनके साथ बड़ी सहजता से बातचीत होती है। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से दीक्षा पाने के बाद एक दिन मैं अपने एक मित्र के साथ जयरामबाटी गया। वे मित्र बाद में संन्यासी हुये। उस समय हम लोगों की आयु १९-२० वर्ष थी। हम लोगों के मन में एक बार भी यह ख्याल नहीं आया कि माँ को पहले से ही सूचना देकर जाना उचित होगा। परन्तु हमने पहुँचकर देखा कि उन्हें सूचित करने की जरूरत ही नहीं थी। हम लोगों के पहुँचते ही उनके सेवक ने बताया कि माँ ने उनसे कहकर रखा था – राखाल (स्वामी ब्रह्मानन्द) के दो लड़के आ रहे हैं, उनके ठहरने की व्यवस्था करके रखना। जब हम लोग जयरामबाटी पहुँचे, तब तक सभी के दोपहर का भोजन हो चुका था। लेकिन माँ ने हम लोगों के लिये कुछ खाने को रख दिया था। हम लोगों को केले के पत्तों पर भोजन परोसा गया। सारे समय माँ पास में ही बैठी रहीं।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

निश्चित रूप से कह पाना कठिन है कि हमारा यह राष्ट्रीय पुनर्निर्माण क्या रूप लेगा और सम्पूर्ण विश्व के विषय में कुछ भविष्य-वाणी कर पाना भी कठिन है, परन्तु मेरा हार्दिक विश्वास है कि मानव-जाति के इतिहास में स्वामी विवेकानन्द के विचार तथा आदर्श एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले हैं। मेरी कामना है कि उनका प्रभाव निरन्तर विस्तार को प्राप्त होता रहे!

* विवेकानन्द साहित्य, मायावती, सं. १९६३, खण्ड ५, पृ. २१५

(प्रबुद्ध भारत, फरवरी १९३०)

खाते-खाते हम लोग उनके साथ बातचीत करने लगे। भोजन समाप्त होने के बाद जब हम पत्ते उठाने जा रहे थे, तो माँ बोल पड़ीं – "यह क्या कर रहे हो?" मेरे मित्र लज्जा से चुप रह गये, पर मैंने साहस बटोर कर कहा – "ये जूठे पत्ते हम लोग यहाँ छोड़कर नहीं जा सकते, माँ!" वे बड़े सहज भाव से बोलीं – "घर में तुम लोगों की अपनी माँ पास में बैठी होती, तो क्या करते?" समाधान मिल गया। हम लोगों के उठ जाने पर माँ ने उस स्थान की सफाई कर दी।

माँ की एक विशेषता थी। उनके सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों को लगता कि वे हू-ब-हू उनकी अपनी माँ के समान ही हैं। मुझे भी ऐसा ही बोध होता और कई लोगों से पूछने पर पता चला कि उन्हें भी ऐसी ही अनुभूति होती है। मुझे लगता कि श्रीमाँ बिल्कुल अपनी माँ की ही तरह हैं – सहज, सरल, स्वाभाविक एक ग्राम्य महिला। यद्यपि उस समय उनके बारे में मेरे मन में ऐसी ही धारणा थी और उनके आध्यात्मिक महत्त्व के बारे में मैं पूरी तौर से अज्ञानी था, तो भी उस समय मेरे भीतर ऐसा कुछ परिवर्तन आया, जिसे उस समय मैं समझ नहीं सका था। परन्तु आज मैं कह सकता हूँ कि पहले मुझ पर माँ की कृपा हो चुकी थी, इसलिये बाद में मैं स्वामी ब्रह्मानन्द जी की कृपा पा सका था और रामकृष्ण संघ में भी सम्मिलित हो सका था।

श्रीमाँ में किसी बाह्य ऐश्वर्य का प्रकाश या चकाचौंध नहीं था। वैसे ऐश्वर्य की कुछ अभिव्यक्ति तो अवश्य थी, परन्तु वह इसलिये नहीं था कि वे श्रीरामकृष्णदेव की सहधर्मिणी थीं – जैसे हजारों व्यक्ति मन्दिरों में जाकर भगवान की पूजा करते हैं, ठीक वैसी ही पूजा श्रीमाँ के सिवा अन्य किसी को – यहाँ तक कि बुद्ध, ईसा अथवा रामकृष्ण को भी उनके अपने जीवन काल में नहीं मिली। परन्तु मैंने देखा है कि कैसे हजारों लोग माँ की जगदम्बा-ज्ञान से पूजा कर रहे हैं और माँ इस विषय में पूर्ण रूप से उदासीन तथा निर्लिप्त हैं। अनेक लोगों के जीवन में श्रीमाँ की असीम क्षमता प्रकट हुई और वे माँ के स्पर्श मात्र से ही मुक्त हो गये। हमारी माँ साक्षात् जगदम्बा थीं।* ❑❑❑

* Sri Sarada Devi : The Great wonder, Ed. Swami Budhananda, Ramakrishna Mission, New Delhi, 1984, pp. 158-160 से संकलित

मातृ-दर्शन

स्वामी सत्प्रकाशानन्द

१९०८ ई. के जनवरी-फरवरी माह में मैं पहली बार (ढाका से) कोलकाता गया। उस समय मास्टर महाशय से मिलने के बाद मैंने निश्चय किया कि माँ का दर्शन करने जाऊँगा, परन्तु विभिन्न कारणों वश वह सम्भव नहीं हो सका। श्रीमाँ उस समय सम्भवत: कोलकाता में नहीं, बल्कि अपने गाँव जयरामबाटी में थीं।

१९११ ई. के दिसम्बर में जब मैं दुबारा कोलकाता गया, उस समय माँ के दर्शन का परम सौभाग्य मुझे मिला था। बुधवार का दिन था। शाम के समय मैं बागबाजार के उद्‌बोधन कार्यालय में जा पहुँचा। माँ उसी भवन की दूसरी मंजिल में रहती थीं। मुख्य द्वार से प्रविष्ट होकर मैं मकान के भीतर एक छोटे-से आँगन में जा पहुँचा। वहाँ मेरी एक संन्यासी से भेंट हुई, जिनसे मेरा ढाका से ही परिचय था। उनका नाम था कपिल महाराज।[१] मैंने उन्हें बताया कि मैं माँ का दर्शन करने आया हूँ।

उन्होंने मुझसे बताया कि पुरुष भक्तगण केवल मंगलवार और शनिवार के दिन ही माँ का दर्शन कर सकते हैं। मैंने कहा – "मैं थोड़े ही दिनों के लिये कोलकाता आया हूँ, शनिवार तक नहीं ठहर सकता।" तब उन्होंने माँ के एक अल्पवयस्क संन्यासी-सेवक से, जाकर माँ को सूचित करने को कहा कि ढाका से एक भक्त-युवा उनका दर्शन करने आया है और वह शनिवार तक कोलकाता में नहीं ठहर सकता। माँ से अनुमति लेने के बाद वे ही अल्प-व्यस्क संन्यासी मुझे दुमंजले पर स्थित माँ के कमरे में ले गये।

कमरे में एक ओर अभी जैसी है, वैसी ही एक वेदी थी। दूसरी ओर एक कोने में एक तख्त के ऊपर माँ का बिस्तर लगा था। वे फर्श पर पाँव लटकाये उसी तख्त पर विराजती थीं। कमरे में प्रविष्ट होकर मैंने देखा – फर्श पर कुछ भक्त-महिलाएँ माँ के चरणों के समीप बैठी हैं। मेरे आते ही वे लोग बगल के एक कमरे में चली गयीं।

यथारीति माँ का चेहरा घूँघट से ढँका था। मैंने धरती पर सिर टेककर उन्हें प्रणाम किया और उनकी चरणधूलि ली। इसके बाद मैं बोला – ढाका से आया हूँ और आपका आशीर्वाद पाना चाहता हूँ। उन्होंने अपना दहिना हाथ उठाकर मुझे आशीर्वाद दिया और एक-दो बातें कहीं। ठीक उन्हीं अल्पव्यस्क संन्यासी ने द्वार के सामने आकर हाथ के इशारे से मुझे अपने पास बुलाया। माँ के कमरे से निकलकर बरामदे में आते ही उन्होंने पत्ते के एक दोने में मुझे कुछ प्रसादी फल और सन्देश (मिठाई) दिया। प्रसाद ग्रहण करने के बाद हाथ धोकर जब मैं पुन: माँ के कमरे में जा रहा था, तो वे बोल उठे – "आज और मत जाइयेगा।"

मुख्यत: गर्मी की छुट्टियों में ही मैं कोलकाता तथा बेलूड़ मठ जाया करता था। श्रीमाँ प्राय: उस समय जयरामबाटी में रहतीं और जगद्धात्री-पूजा के बाद अक्तूबर-नवम्बर में कोलकाता

१. संन्यास-नाम स्वामी विश्वेश्वरानन्द। ये माँ के मंत्रशिष्य थे। करीब दस वर्ष उद्‌बोधन कार्यालय के व्यवस्थापक थे। १९ अगस्त १९४९ ई. को उनका देहावसान हुआ।

लौटतीं। सुना था कि कामारपुकुर और जयरामबाटी में मलेरिया का प्रबल प्रकोप रहता है। चूँकि इतने दिनों तक मैंने शहर में निवास किया था, अत: विशेषकर बरसात के मौसम में वहाँ जाने का साहस नहीं जुटा पाता था।

जहाँ तक याद आता है, १९१५ ई. की गर्मियों में एक दिन स्वामी प्रेमानन्द ने मुझसे माँ का एक चित्र ले जाकर पूजा करने को कहा। उन्होंने उद्‌बोधन कार्यालय के रासबिहारी महाराज (स्वामी अरूपानन्द) के नाम एक पत्र भी लिख दिया था कि वे मुझे माँ का एक चित्र दे दें। वह पत्र लेकर मैं रासबिहारी महाराज के पास गया और उनसे चित्र ले आया। यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि जब तक माँ स्थूल शरीर में रहीं, तब तक उनके चित्रों की बिक्री नहीं होती थी। परम मूल्यवान रत्न की भाँति उस चित्र को साथ लिये मैं ढाका वापस लौटा। वहाँ मैंने अपने पूजा के कमरे में ठाकुर की चित्र की बगल में माँ का चित्र भी रख दिया। ढाका में १९०५ ई. से ही मैं मोहिनी बाबू[२] के घर पर रहता था और वहीं से मठ के साथ सम्पर्क रखता था।

१९०८ ई. के ६ फरवरी, गुरुवार के दिन मैंने पहली बार महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) को देखा। प्रथम दर्शन के बाद से ही दिनो-दिन उनके प्रति मेरा आकर्षण बढ़ता गया।

१९१६ ई. की गर्मियों में मैं पुन: बेलूड़ मठ गया। उस समय कुछ युवा भक्त माँ से दीक्षा लेने हेतु जयरामबाटी जाने की योजना बना रहे थे। उनमें से अधिकांश पहले कभी वहाँ नहीं गये थे। उस दल में प्रभु भी थे, जो परवर्ती काल में स्वामी वीरेश्वरानन्द के रूप में रामकृष्ण मठ तथा मिशन के दशम अध्यक्ष हुए। उन्हें जाते देखकर मुझे ऐसा लगा मानो यह जयरामबाटी जाने और माँ से दीक्षा प्राप्त करने का एक अपूर्व सुयोग हासिल हुआ है। हम लोग जल्दी ही रवाना हो गये। प्रस्थान के पूर्व सबके साथ मैंने भी जाकर महाराज को प्रणाम किया और विदा ली। कुछ दूर हम लोग ट्रेन से गये। उसके बाद एक विशाल मैदान से होकर पैदल चलने लगे। उस टोली में हम ६-७ लोग थे।

उसी दिन शाम को मेरे शरीर में पेचिस के लक्षण दिख पड़े। असल में वह खूनी आँव था और उसके कारण मुझे बीच-बीच में रुकना पड़ता। मेरे साथियों ने मुझसे एक बैलगाड़ी किराये पर लेने की सलाह दी। गाड़ी ले ली गयी और मैं उसी में चढ़कर सो गया। करीब रात भर गाड़ी चलती रही। उसी टोली के एक व्यक्ति – शरदिन्दू, जो बाद में स्वामी विश्वनाथानन्द[३] हुए – मेरे पुराने घनिष्ठ मित्र थे। वे बैलगाड़ी के पीछे-पीछे ही चल रहे थे। बीमारी के कारण मुझे अक्सर ही बैलगाड़ी रुकवानी पड़ती। टोली के बाकी सभी लोग कोई सामने, तो कोई पीछे, पैदल चल रहे थे।

अगले दिन सुबह हम लोग जयरामबाटी से कुछ दूर एक नदी के किनारे पहुँचे। रास्ते में शरदिन्दू मुझसे बारम्बार कहता रहा कि इस अवस्था में मेरा माँ के पास जाना उचित नहीं होगा, क्योंकि मुझे इस बीमारी की हालत में देखकर उन्हें काफी असुविधा होगी। और इसी कारण वह मेरे कोलकाता लौट जाने पर जोर देने लगा। मेरी तो लौटने की जरा भी इच्छा नहीं थी और मैं यह भी नहीं चाहता था कि मेरे कारण माँ को थोड़ी भी असुविधा हो। आखिरकार मैंने लौट जाने का निर्णय लिया। मैंने गाड़ीवान से गाड़ी लौटा ले चलने को कहा। शरदिन्दू भी स्वेच्छा से मेरे साथ चले।

अगले दिन हम लोग वापस कोलकाता पहुँच गये। इस बीच मैं काफी कुछ स्वस्थ हो चला था। कोलकाता आकर मैं अपने एक सम्बन्धी के घर गया। उन्होंने मेरी अच्छी देखभाल की। कुछ दिनों के भीतर ही मेरा स्वाभाविक स्वास्थ्य पुन: लौट आया।

नीरोग होकर मैं बेलूड़ मठ गया। इस बीच वहाँ मेरे लौट आने की खबर पहुँच चुकी थी। अनेक भक्त भी यह जान गये थे। मन्दिर में ठाकुर को प्रणाम करने के बाद मैंने स्वामी प्रेमानन्द को प्रणाम किया। वे बोले – "समय हुए बिना कोई काम नहीं होता।" इसके बाद मैं महाराज को प्रणाम करने गया। मुझे देखकर वे केवल इतना ही बोले – "**श्रेयांसि बहु विघ्नानि** – भलाई के मार्ग में अनेक बाधाएँ आती हैं।"

इसके बाद दुबारा कभी माँ के दर्शन का सौभाग्य मेरे जीवन में नहीं आया। १९२० ई. के २१ जुलाई के दिन माँ ने महासमाधि ले ली।

१९ अप्रैल, १९२३ ई. को जयरामबाटी में माँ के मन्दिर के उद्‌घाटन में उपस्थित रहने का सौभाग्य मुझे अवश्य मिला था। स्वामी सारदानन्द ने मन्दिर का उद्‌घाटन किया था। उस उत्सव में रामकृष्ण मठ तथा मिशन के सौ से भी अधिक संन्यासी और कोलकाता तथा अन्य स्थानों के बहुत-से भक्तों ने योगदान किया था। उत्सव कई दिनों तक चलता रहा। दूर-दराज के हजारों ग्रामवासियों को भरपेट भोजन कराया गया। यह मेरे द्वारा देखे गये सबसे बड़े उत्सव-अनुष्ठानों में से एक था।*

❑❑❑

२. जमींदार मोहिनीमोहन दास। उनका मकान ढाका के फरासगंज में था। १९०१ ई. में जब स्वामी विवेकानन्द ढाका गये थे, तो इन मोहिनी बाबू के मकान में ही ठहरे थे।

३. स्वामी विश्वनाथानन्द ने १९२४ ई. में वाराणसी के श्रीरामकृष्ण अद्वैत आश्रम में प्रवेश लिया था। वे स्वामी ब्रह्मानन्द के मंत्र-शिष्य थे। १९ जून, १९५८ ई. को काशी में ही उन्होंने देहत्याग किया।

* लेखक के The Significance of Sri Ramakrishna's Life and Message in The Present Age, (Vedanta Society of St. Louis, U.S.A. 1976, PP 85-91) ग्रंथ से संकलित और अनूदित।

भारत-महिमा

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

– १ –

न्यारा हिन्दुस्तान

सब देशों में, सबसे बढ़कर
न्यारा हिन्दुस्तान ।
हमको लगता प्राणों से भी
प्यारा हिन्दुस्तान ।।

भारत भी है इसी देश का
परम पुरातन नाम,
इसकी धरती, नदियाँ, पर्वत
सब अति ही अभिराम,
महाकाल से भी न आज तक
हारा हिन्दुस्तान ।।

अखिल विश्व में गौरवमय है
इसका ही इतिहास,
मानवता की आदि भूमि यह
मानव का उल्लास ।
रहा बहाता सत्य-धर्म की
धारा हिन्दुस्तान ।।

चाहे जो भी शरणागत हो,
उसका करता त्राण,
त्याग-तपस्या-शौर्य-सलिल से
सिंचित इसके प्राण ।
पुण्य प्रकृति से सदा मनोहर
सारा हिन्दुस्तान ।।

इसकी रक्षा में तत्पर हम
देंगे जीवन दान,
हम चमकेंगे बनकर इसके
अम्बर का दिनमान ।
जगमग रहे सदा, आँखों का
तारा हिन्दुस्तान ।।

– २ –

प्यारा देश

भारत प्यारा देश महान् ।
नाम इसी का हिन्दुस्तान ।।

सारी धरती का शिरमौर,
ऐसा कोई देश न और,
ऋषियों-मुनियों की क्या बात,
यह देवों का भी है ठौर,
धरती पर यह स्वर्ग-समान ।
भारत प्यारा देश महान् ।।

मुकुट हिमालय सदाबहार,
गंगा-यमुना-जल गलहार,
कल-कल करती हैं गुण-गान
कृष्णा-गोदावरी उदार,
विन्ध्याचल मणियों की खान ।
भारत प्यारा देश महान् ।।

शरणागत को देता त्राण,
करता अरि का भी कल्याण,
महा मानवों की यह भूमि,
यह है मानवता का प्राण,
इसकी संस्कृति पुण्य प्रधान ।
भारत प्यारा देश महान् ।।

पद धोता है सिन्धु अपार,
लहरें करतीं जय-जयकार,
ले सुमनों की सुखद सुगन्ध
पवन बाँटता सबको प्यार,
इसका कहीं नहीं उपमान ।
भारत प्यारा देश महान् ।।

– ३ –

भारतवर्ष

अपनी संस्कृति से जग में
भारतवर्ष महान् बना ।
इसी देश के आँगन में
सबको सुखद विधान बना ।।

ऋषि-मुनियों के स्वर में
गूँजी वेदों की वाणी,
कर्मों की हुई प्रवाहित
पावन गंगा कल्याणी,
मानवता का, मानव का
भारत देश विहान बना ।
अपनी संस्कृति से जग में
भारतवर्ष महान् बना ।।

सत्य-न्याय सद्भावों की
खिली यहीं पर फुलवारी,
इसकी महिमा के ऊपर
हुए देव भी बलिहारी,
मानवता के अधरों की
यह मधुरिम मुस्कान बना ।
अपनी संस्कृति से जग में
भारतवर्ष महान् बना ।।

प्रलयकाल में भी न कभी
यह अपना साहस हारा,
स्वतंत्रता का, समता का
जीवन है इसको प्यारा,
जग में जगमग जीवन की,
यही देश, पहचान बना ।
अपनी संस्कृति से जग में
भारतवर्ष महान् बना ।।

दैवी सम्पदाएँ (१८) मृदुता

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

मार्दव या मृदुता जीवन-कला का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। इसका अर्थ है जीवमात्र के प्रति अन्तर तथा आचरण में निष्कारण कोमलता होना। दु:ख देनेवाले तथा बैर रखनेवालों के प्रति भी कठोरता का भाव न रखना। क्रूरता का सर्वथा परित्याग मानवीय मृदुता का सच्चा रूप है। क्रूरता पाशविक वृत्ति है। हिंसात्मक होने के कारण यह त्याज्य है। सभी महापुरुषों तथा धर्म-ग्रन्थों ने इसे त्यागने का उपदेश दिया है। मानव-समाज हजारों वर्षों से इसके निवारण की चेष्टा कर रहा है, पर आज भी क्या वह नि:शेष हो सकी है? विश्व आज भी युद्धों की विभीषिका से आक्रान्त है। दिन-रात घातक हथियारों का निर्माण हो रहा है, प्रतिदिन हजारों मनुष्य, सुन्दर नवोढ़ाएँ और अबोध बच्चे मौत के मुँह में ढकेले जाते हैं। मानव को जितना भय मानव से है, उतना किसी अन्य से नहीं है। पशु तो बेचारे यों ही बदनाम हैं। उनमें कपट, ठगी, चुगली, अहंकार, घृणा और असीमित लिप्सा का पाखण्ड नहीं है, परन्तु मनुष्य तो इनका दास है। परुषता (कठोरता) पुरुष की संगिनी है, जो उसे उसकी पुरुषता से वंचित करती है। यह आसुरी गुण है (१६/४)। पारुष्य की शिला पर न तो मृदुलता के कमल खिलते हैं और न दैवी-सम्पदाओं, माननीय विभूतियों के दुर्वादल पल्लवित होते हैं। कठोरता की चट्टान से कभी करुणा की गंगा, प्रेम के निर्झर, ऋजुता और मृदुता की स्निग्ध धारायें नहीं फूट सकतीं। कठोरता से सामाजिक-सम्बन्धों की लतायें लीला-निकुंजों का सृजन नहीं करतीं। कर्कशता ग्रीष्म ऋतु है, जिसका लक्ष्य प्रेम के जलाशयों को सुखाना है। मृदुता शीतल-मन्द समीर से प्रमत्त ऋतुराज बसन्त की सम्पत्ति है, जिसकी कोमलता की कहानी हर नई कोंपल, पलाश की हर मुस्कान और आम की डाल पर बैठी इतराती हर कोयल सुनाती है।

मृदुता जीवन की रसवत्ता का अपर पर्याय है और रसवत्ता प्राणवत्ता का प्रमुख आधार है। मृदुता ही सरसता है, जिसकी भूमि पर जीवन-वृक्ष को पूर्ण विकसित होने का अवसर मिलता है। मृदुता प्रेम-चासनी में पगी होती है। जब मन प्रेम के सागर में डूब जाता है, प्रेमरंग में सराबोर होता है, प्रेम-मदिरा से छक जाता है, चारों ओर प्रेम की लालिमा को देखकर स्वयं भी लाल हो जाता है, तब विचार-वाणी तथा कर्म से मृदुता की रसधार झरने लगती है। मानवीय पीड़ा की तीव्र अनुभूति और सहानुभूति की उत्कट प्रसव-वेदना मार्दव-शिशु को जन्म देने को विवश होती है। जब संवेदना के दोले में मृदुता की राजकुमारी झूलती है; तब हृदय के घावों को कर्कशता या क्रूरता की पिनों से कुरेदने का दुष्कृत्य नहीं होता, अपितु प्रेम का मरहम लगाने का मानवीय उपक्रम होता है।

मृदुता का मूलाधार है, मान का अभाव। जहाँ मान है, वहीं कठोरता है। मान में व्यक्ति अपने को बड़ा तथा दूसरों को छोटा समझता है; और फिर उनके साथ समानता का व्यवहार नहीं करता। उनके मान की चिन्ता उसे नहीं होती। वह तो अपने मान को ही समझता है और उसकी रक्षा हेतु मायाचार या कपटपूर्ण व्यवहार करता है। दूसरों का मानभंग करके अपने मान की वृद्धि करता है। बहुमान पाने के लिये कृत्रिम उपायों और अवसरों की खोज और संरचना करता है।

मान के कई कारण होते हैं – उच्च वर्ग या जाति में जन्म लेना, उच्च कुल का होना। धन, यौवन, रूप, शारीरिक बल, जनबल, बुद्धिबल, तपोबल और अधिकार बल आदि से मान होता है। इन्हें पाकर लोग इतराते और ऐंठते हैं। व्यवहार में शुष्कता और कठोरता आ जाती है। सम्मान, सुमान, बहुमान, अभिमान, स्वाभिमान और अपमान सबमें मान लगा हुआ है। कुछ लोग कहते हैं कि स्वाभिमान होना चाहिये, किन्तु अभिमान ठीक नहीं है। परन्तु सच्चाई तो यह है कि स्वाभिमान तथा अभिमान के बीच सीमा-रेखा खींचना सम्भव नहीं है। देश, धर्म और संस्कृति के स्वाभिमानों में जब टकराहट होती है, तब विश्वबन्धुत्व के उदात्त मूल्यों को आघात पहुँचता है। व्यक्तिगत स्वाभिमान टकराने पर अभिमान के रूप में ही प्रकट होता है। अत: मान के साथ स्वाभिमान टकराने पर, वह अभिमान के रूप में ही प्रकट होता है। अत: मान के साथ स्वाभिमान का भी विसर्जन करना आवश्यक है।

मान और अहंकार समानधर्मा हैं। इनकी जननी ममता है। सम्पत्ति, यौवन, रूप आदि को मनुष्य वास्तव में अपना समझता है। इनमें उसकी आसक्ति होती है। इनकी क्षणभंगुरता का भान उसे नहीं होता। यद्यपि वह जानता है कि ये स्थायी नहीं हैं, परन्तु मोह के कारण उसे सम्यक् ज्ञान की दिव्य ज्योति नहीं मिल पाती, जिसके फलस्वरूप वह जीवन भर भटकता है और अन्त में जिन पर उसे मान था, उन्हें छोड़ता है या फिर वे ही उसे छोड़ देते हैं।

ममता में व्यक्ति जिसे अपना समझता है, उनके प्रति तो वह उदार रहता है, किन्तु जो उसके स्व के वृत्त से निकल गये, उनके प्रति वह अनुदार हो जाता है। पर सर्वदा यह नियम भी लागू नहीं रहता, क्योंकि ममता में व्यक्ति वस्तुओं के समान ही व्यक्तियों को भी उपभोग की वस्तु मानता है। वह उन्हें केवल 'अपना' ही नहीं, अपितु 'अपने लिये' भी मानता है। यदि इसमें अपर उपभोग्य व्यक्ति की ओर से सचेतन होने के कारण कोई बाधा आती दिखाई दी, तो वह व्यग्र हो जाता है, उसके उपभोक्ता की चेतना को ठेस पहुँचती है और वह अपनों के प्रति भी कठोरता अपनाता है।

मान मिलने पर अहंकार होता है और न मिलने पर क्रोध। अपमान मिलने पर प्रतिशोध के भाव उभरते हैं। अहंकार और क्रोध में विवेक का विनाश, सम्मोह और स्मृति का विभ्रम होता है। मान मानसिक ज्वर का वह थर्मामीटर है, जिसका पारा मान और अमान की स्थितियों में ऊपर चढ़ता है। दोनों व्यक्ति के पतन के द्वार खोलते हैं। इसलिये मान-अपमान की द्वन्द्वात्मक दशाओं में मानसिक सन्तुलन स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक है। **समं मानापमानयोः** अथवा **अमानी** की स्थिति ही मृदुता की ढाल है। दीनता-हीनता भी मृदुता के लिये घातक है, क्योंकि दीन-हीन व्यक्ति निर्मम और भावशून्य होता है। वह निष्करुण तथा निर्दय होता है। **कठोरता के सैकत-पुलिनों पर जब करुणा का सागर लहराता है, तब मृदुता के मोती बाहर निकल आते हैं।** जिनके लावण्य से बालू के कण चमकते हैं। काम-क्रोध आदि के भाव अगस्त्य ऋषि बनकर मृदुता के सिन्धु को पीने का प्रयास करते हैं; किन्तु सन्तोष, ज्ञान और समता की मेघ-मालायें जब हृदयाकाश में उठती हैं, तब कामादि का ताप मिट जाता है और मृदुता का इन्द्रधनुष अपने सौन्दर्य से जनमन को आकर्षित करता है। मृदुता में धैर्य, दृढ़ता, क्षमा, सहिष्णुता, निर्भीकता, चित्त की पवित्रता, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध और करुणा जैसे भाव विद्यमान रहते हैं। इनके बिना मृदुता का माधुर्य प्रकट नहीं हो सकता। उसका सौन्दर्य आकर्षण-विहीन होगा। ऋजुता निष्कपट व्यवहार और माया का तिरोभाव है, जबकि मृदुता मान-कषाय का विपर्यय है। क्रोध का शमन तथा क्षमाभाव मृदुता का सम्बल है। यह निर्भीकता आदि दैवी गुणों की भूमि पर अधारित है। मृदुता विनम्रता की सहजात सहोदरा है। विनयशील व्यक्ति भौतिक ऐश्वर्य तथा साधना-सिद्ध ऋद्धि-सिद्धि से प्रमादी, उद्धत और अहंकारी नहीं होता। वह शिष्ट, सभ्य तथा अनुशासित रहता है। ईसा मसीह द्वारा पहाड़ी पर दिये गये दस उपदेशों में से एक उपदेश यह भी है – "धन्य हैं वे, जो विनम्र हैं, क्योंकि वे पृथ्वी के अधिकारी होंगे।"

जहाँ मृदुता है, वहीं मधुरता है। सुन्दरता मधुरता का ही पर्याय है। मृदुता लावण्य है। जिस प्रकार बिना लवण समस्त व्यंजन व्यर्थ लगते हैं, उसी प्रकार मांसल सौन्दर्य चाहे कितना ही हो, परन्तु यदि मृदुता नहीं है तो, वह व्यर्थ है। मृदुता प्रत्येक दिशा और दशा में फूटती है। वह मोहक मादकता है। भगवान कृष्ण की मधुरता का कहना ही क्या है? उनका तो सब कुछ ही मधुर है –

वचनं मधुरं, चरितं मधुरं
वसनं मधुरं, बलितं मधुरम्।
चलितं मधुरं, भ्रमितं मधुरं,
मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।।

नृशंसता दानव का गुण है और अनृशंसता मानव का सर्वोच्च प्राप्तव्य। हिटलर और स्टालिन आदि की नृशंसता को कौन नहीं जानता?

निरपराध लोगों की जघन्य हत्यायें करनेवाले खडाकुओं के चेहरे अब किसके लिये सुकोमल हैं? कहना होगा, जहाँ मृदुता नहीं है, वहाँ क्रूर कर्म, मानवता को लज्जित करनेवाली हिंसा और प्रभु-पुत्रों को पीड़ित करनेवाली नृशंसता होगी। सर्वोदयी एवं सर्व-कल्याण-कामी मृदुता जहाँ है, वहाँ समाज सुख-शान्ति का उपभोग करता हुआ अभ्युन्नत होगा।

मृदुता एक सापेक्ष शब्द है। कठोरता के सन्दर्भ में ही मृदुता का मूल्य है। इसीलिये कठोरता मृदुता का संरक्षण करती है। कठोर काँटों के बीच ही सुकोमल गुलाब खिलता है। चट्टान के भीतर से ही मृदु जल की धारा प्रवाहित होती है। मृदुता कठोरता से पराजित नहीं होती, वरन् कठोरता ही मृदुता के सामने नतमस्तक होती है। कोमल अंकुर, भूमि के कठोर हृदय को चीरकर ऊपर आता है। कोमल घास को कठोर हथियार भी बिना आधार के काटने में असमर्थ है। काठ को काट देनेवाला भौंरा भी कमल के पुष्प को काटकर बाहर निकलने में असमर्थ रहता है, क्योंकि पुष्प की मृदुता के समक्ष वह अपनी कठोरता को भुला बैठता है। दुर्वासा का कठोर शाप अम्बरीष का कुछ नहीं बिगाड़ सका।

पुष्प मृदुता का प्रतीक है। जहाँ मृदुता है, वहीं मधुरता एवं सौन्दर्य है। पुष्प इन सबका संगम स्थल है। कामदेव में मृदुता और कठोरता का सम्मिश्रण है। उसमें दोनों के दर्शन

होते हैं –

मृदु तीक्ष्णतरं यदुच्यते, तदिदं मन्मथ दृश्यते त्वयि ।
(मालविकाग्नि-मित्रम्)

कामदेव का बाण पुष्पमय है। अत्यन्त मृदु है। वह कठोर-से-कठोर हृदयों को भी बेध देता है, परन्तु सन्तों के सुकोमल हृदय को बेधने की क्षमता उसमें नहीं है। नारी कोमलता का पर्याय है, परन्तु उसमें चट्टान की कठोरता भी निहित होती है।

मृदुता के दर्शन निम्नांकित रूपों में हो सकते हैं –

(१) शारीरिक मृदुता
(२) मानसिक अथवा आन्तरिक भावों की मृदुता
(३) वाणी की मृदुता
(४) व्यवहार की मृदुता

१. शारीरिक मृदुता

शारीरिक मृदुता का अर्थ है अङ्ग-प्रत्यङ्ग की सुकोमलता। बाह्य जगत् के प्रति संवेदन-शीलता। मुख पर ऐसी मुद्रायें न हों, जो क्रोध, दर्प, क्रूरता जैसे कठोर भावों को व्यक्त करती हैं, जिन्हें कोई देखते ही भयभीत हो जाय। ''मुख-मण्डल आन्तरिक भावों का सूचक है'' – यह उक्ति सत्य है, क्योंकि जितने भी कठोर या कोमल, सुखद या दु:खद मनोभाव हैं, उनकी प्रथम झलक मुख के आइने पर ही मिल जाती है। स्नेहमयी माता के तमतमाये चेहरे को देखकर अबोध शिशु भी ताड़ जाता है कि माता की मन:स्थिति अनुकूल नहीं है। क्रूर-कर्मियों को समाज उनकी मुखाकृतियों से ही पहचान लेता है। तुलसीदास जी ने श्रीराम को 'कोमलांग' कहा है, अर्थात् उनका प्रत्येक अंग कोमल है। 'जलज-आभ' और 'नीलाम्बुज' हैं। 'कमल' शब्द कोमलता का वाचक है। मृदुता का द्योतक है। सृष्टि के सर्जक पितामह ब्रह्मा तथा ज्ञान की अधिष्ठात्री सरस्वती का यह आसन है। आशय यह है कि मृदुता ही समस्त जागतिक व्यवहार का आधार है। अंग-अंग से मृदुता व विनम्रता का परिचय मिलना चाहिये।

वेशभूषा भी विनम्रता की सूचक है। दादाओं, हिप्पियों तथा लफंगों की पहचान उनके पहनावे और चाल-ढाल से हो जाती है। अत: वेषभूषा को व्यक्ति की मृदुलता और मधुरता का संकेतक होना उचित है।

(२) मानसिक या आन्तरिक भावों की मृदुता

मृदुता व्यक्ति के आभ्यन्तर से प्रकट होती है। मृदुता का उद्भव पहले मन में ही होता है और उसके बाद वाणी तथा व्यवहार में। भावों और विचारों में कठोरता होने से वाणी तथा व्यवहार भी कठोर हो जाता है। मन में किसी प्रकार का दुराग्रह अथवा पूर्वाग्रह न हो। उस पर बाह्य दूषित वातावरण का दुष्प्रभाव न पड़े। कुत्सित चिन्तन, पर-अमंगल की कामना, केवल स्वयं के अभ्युदय का मनन और विध्वंसात्मक विचारों से मानसिक मृदुता नष्ट हो जाती है। सद् विचारों के चिन्तन तथा करुणापूर्ण व्यवहार से सन्तोष और प्रसन्नता की अनुभूति होती है और भावों की कोमलता भी अक्षुण्ण रहती है। प्रसन्नता ही तो मृदुता का रूप है। प्रसन्नता में कठोर व्यवहार असम्भव है। मानसिक ग्रन्थियों और विकृत चिन्तन से क्रूरता आती है। मानसिक तनाव से न केवल निजी स्वास्थ्य की हानि होती है, अपितु बाहरी वातावरण में भी बिखराव आता है। अत: तनावमुक्त विचार मानसिक स्वास्थ्य के लिये परम आवश्यक है और मृदुता मानसिक स्वस्थता का सर्वप्रथम लक्षण है।

(३) वाणी की मृदुता

वाणी की कठोरता कानों में ठोकी जानेवाली कील और हृदय को बेधनेवाला तीर है। वाणी का माधुर्य औषधि है, जो हृदय के घावों को भर देती है –

मधुर वचन है औषधी, कटुक वचन है तीर ।
श्रवन द्वार से संचरै, सालै सकल शरीर ।।

मधुर वचन एक वशीकरण मंत्र है, जिसे सुनने मात्र से ही लोग अपने बन जाते हैं और चारों ओर सुख-ही-सुख दिखाई देने लगता है –

वशीकरण एक मंत्र है, तज दे वचन कठोर ।
तुलसी मीठे वचन तें सुख उपजत चहुँ ओर ।।

वाणी में दर्प, क्रोध और प्रतिशोध की भावना न हो, दूसरे के मन पर चोट न पहुँचाये और अन्तर्मन के घावों को न कुरेदे। शीतल वाणी दूसरों को तो शीतल करती है, स्वयं वक्ता को भी शीतल तथा आनन्दित करती है –

ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय ।
औरन को शीतल करै, आपहुँ शीतल होय ।।

कौआ किसके धन का हरण करता है। कोयल किसे देती है? वह मीठे स्वर से संसार को अपना बना लेती है –

कागा काको धन हरै, कोयल काको देय ।
मीठो वचन सुनाइ कै, जग अपनौ करि लेय ।।

कर्कश वाणी श्रोता के मन को व्यथित कर देती है। मानवीय सम्बन्धों में दरार उत्पन्न करके प्रेमदुग्ध को फाड़ देती है। कर्कशता – पुरुषार्थ, चारित्रिक निष्ठा अथवा हृदय की पवित्रता का प्रमाण नहीं है, अपितु पराजित तथा विघटित व्यक्तित्व की वाचिक अभिव्यक्ति है। मितता, प्रियता, सत्यता, आत्मीयता, उचित प्रस्तुति, प्रसन्नता, सार्थकता और प्रभावमयता आदि ऐसे घटक हैं, जिनसे वाणी की मृदुता का संवर्धन हो सकता है।

(४) व्यवहार की मृदुता

व्यवहार एक कला है, जिससे शत्रु भी मित्र बन जाते हैं।

वाणी की मृदुता का प्रभाव अस्थायी होता है, वह व्यवहार की मृदुता से ही स्थायी बनता है। यह जीवन के बाह्य मूल्यों पर ही प्रभाव नहीं डालती है, इससे आन्तरिक मूल्य भी प्रभावित होते हैं। सामाजिक व्यवहार का उद्देश्य सम्बद्ध समस्त पक्षों को लाभान्वित करना, उन्हें जोड़ना है। व्यवहार का सामान्य नियम है कि आप कहीं जाये, तो सर्वप्रथम यह सोचें कि आप उन्हें क्या देने जा रहे हैं? जैसे बधाई, प्रशंसा, प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, सहानुभूति, परामर्श या शुभ समाचार? कहीं आपका उद्देश्य आलोचना, चुगली या हतोत्साह करना तो नहीं है? करुणा, दया, ममत्व, स्नेह, सम्मान और सदाशयपूर्ण व्यवहार से ही समाज में सद्भावना उत्पन्न होती है। वृद्धों का उचित सम्मान, छोटों को ममतामय स्नेह, समवयस्कों के प्रति मित्रभाव – ये आन्तरिक मृदुता की अभिव्यक्तियाँ हैं। हमारा किसी से द्वेष न हो, हम सभी को मित्र की आँखों से देखें, परोक्ष में भी किसी के अहित की कल्पना न करें, परहित का त्याग न हो, स्वहित साधना में परार्थ की उपेक्षा न हो – यह सतत ध्यान रखें, तो निश्चित ही मानवीय विभूतियाँ और दैवी सम्पदायें हमारा वरण करेंगी।

जब कभी किसी से हमारा व्यवहार कठोरता का हो जाता है, उसका कारण यह हो सकता है कि हमें उससे अपनी अपेक्षाओं की पूर्ति होती नहीं दीखती। उसमें कुछ-न-कुछ त्रुटि दिखाई देती है। हम उसमें कोई-न-कोई दोष खोज लेते हैं। फिर उसे हम अपने मृदु व्यवहार का पात्र नहीं मानते। यह तरीका गलत है। इसमें सुधार होना चाहिये। संसार प्रभु की सुन्दर वाटिका है। इसमें विभिन्न प्रकार के सुन्दर पुष्प खिले हैं। प्रत्येक पुष्प मनोहारी है। हमें जो पसन्द है, उसे हम चुन सकते हैं। किन्तु किसी को असुन्दर कहने का हक हमें नहीं है, क्योंकि वास्तविक सौन्दर्य गुणों का है और प्रभु की सृष्टि में गुणहीन वस्तु कोई नहीं है। यदि आपने अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन कर लिया, तो उसकी समस्त वस्तुएँ निश्चित ही सुन्दर दीखने लगेंगी। जीवन में मृदुता लाने के लिये इसी दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

यदि हमारा दृष्टिकोण सुलझा हुआ है; वह भ्रम, असत्य और अविवेक पर आधारित नहीं है, तो हमारे भीतर से फूटती मृदुता की सुगन्ध समूचे परिवेश को सुवासित कर देती है। मृदुता कृत्रिम भाव नहीं है। नकली अभिनय देर तक नहीं चल सकता। कुछ लोग अपने व्यवहार के लिये दूसरे को ही उत्तरदायी मानते हैं, पर दूसरी ओर से भी यदि ऐसा ही कारण माना जाय, तो समस्या का समाधान नहीं होता। कहीं-न-कहीं दृष्टिकोण में दोष अवश्य है। उसे निकाल देने पर मृदु व्यवहार स्वतः प्रस्फुटित होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि मृदुता एक महत्त्वपूर्ण जीवन-मूल्य है। वह जीवन जीने की कला का एक अनिवार्य और उपयोगी अंग है। सामाजिकता का आधारभूत मानवीय गुण है। लोकप्रियता का सोपान है। इसके माध्यम से मानव पाशविक क्रूरता के नारकीय द्वार से निकलकर आत्मिक आनन्द की सुन्दर वाटिका के मृदु पुष्पों की मधुर-स्मिति की मृदुता का आस्वादन कर सकता है।

महाभारत में भगवान वेदव्यास की एक उक्ति है –

मृदुना दारुणं हन्ति, मृदुना हन्त्यदारुणम्।
नासाध्यं मृदुना किंचित् तस्मात् तीव्रतमं मृदु।।

– मृदुता से कठोरता और अकठोरता समाप्त हो जाती हैं। मृदुता के लिये कुछ भी असाध्य नहीं है, इसलिये मृदुता ही सर्वाधिक तीव्र प्रभावशालिनी है। ❖ (क्रमशः) ❖

पुरखों की थाती

चिंता चिता समा ह्युक्ता, बिन्दुमात्रं विशेषतः।
सजीवं दहते चिंता, निर्जीवं दहते चिता।।

– चिंता और चिता, दोनों को एक समान ही कहा गया है, भेद केवल एक बिन्दु मात्र अर्थात् अल्प सा है और वह यह कि जहाँ चिता मरे हुए को जलाती है, वहीं चिंता जीवित को ही जलाती है।

चम्पकेषु यथा गन्धः कान्ति-मुक्ताफलेषु च।
यथेक्षुदण्डे माधुर्यम्-औदार्यं सहजं तथा।।

– जैसे चम्पा के पुष्पों में स्वभाव से ही सुगन्धि होती है, जैसे मोती के दानों में स्वभाव से ही चमक होती है, जैसे गन्ने के टुकड़े में स्वभाव से ही मिठास होती है, वैसे ही व्यक्ति में स्वभाव से ही उदारता होती है।

जीर्यन्ते जीर्यतः केशा, दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
क्षीयते जीर्यते सर्वं तृष्णैवैका न जीर्यते।।

– वृद्ध होते हुए व्यक्ति के केश जीर्ण होते जाते हैं, दाँत जीर्ण होते जाते हैं, सब कुछ जीर्ण होता जाता है, परन्तु एकमात्र उसकी तृष्णा वृद्ध या जीर्ण नहीं होती।

जिस देश में यमुना बहती है

रामेश्वर टांटिया

(लेखक १५ वर्ष की अवस्था में जीवन-संघर्ष के लिये जन्मभूमि त्यागकर कलकत्ता आये। कलकत्ता की एक अंग्रेजी फर्म जे. टॉमस कम्पनी में साधारण हैसियत से काम शुरू किया। बाद में क्रमश: उन्नति करते-करते बम्बई, असम और कोलकाता में विभिन्न उद्योग स्थापित किये। १९५७ ई. में लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए और १९६६ ई. तक संसद सदस्य रहे। पाँच बार कांग्रेस पार्टी के कोषाध्यक्ष भी हुए। १९६८-७० ई. में आप कानपुर के मेयर थे आप सुप्रसिद्ध 'ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन' के प्रबन्ध निदेशक भी थे। आपने १९५०, १९६१, १९६४ ई. में तीन बार विदेश-यात्राएँ की। व्यवसायी तथा उद्योगपति होते हुये भी अत्यन्त सहृदय, साहित्यानुरागी तथा समाजसेवी थे। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रस्तुत है आपकी 'भूले न भुलाए' पुस्तक के कुछ अंश। – सं.)

पिछले दिनों, दिल्ली के संसद-भवन के सेंट्रल-हॉल में गया। मेरे मित्र श्री भोला रावत, एम. पी. ने कहा – "आइये, आपको एक पुराने मित्र से मिलवाये।" मैंने चारों ओर नजर घुमाई, परन्तु जान-पहचान का कोई भी दिखाई नहीं पड़ा। पास की बेंच पर गेरुआ वस्त्र पहने एक बाबाजी बैठे थे। भोला बाबू ने हँसते हुये कहा – "पहचाना नहीं? ये हैं श्री महेन्द्र कुमार सिंह ! आपके साथ १९६२ तक संसद-सदस्य रह चुके हैं।" फिर तो उस दाढ़ी-मूँछवाले, हँसते हुए चेहरे में दस वर्ष पहले के महेन्द्र मुझे दिखाई दिये।

१९६२ के पहले ही उनके मन में वैराग्य जग गया था। अत: आगामी संसदीय चुनाव में खड़े नहीं हुये। अपना भरा-पूरा परिवार और धन-सम्पत्ति त्यागकर उन्होंने संन्यास ले लिया। पिछले दस वर्षों के दौरान वे भारत के प्राय: सभी तीर्थों और पहाड़ों की यात्रा कर चुके हैं। मैंने पूछा – "क्या आपको किसी प्रकार की असुविधा का अनुभव नहीं होता?" सीधा-सा उत्तर मिला – "वैसे तो संन्यासी को सुख-सुविधा, या मान-अपमान का ध्यान नहीं रखना चाहिये। गंगा-जमुना का पवित्र देश है हमारा। इसके हर गाँव और खेड़े में श्रद्धालु माँ-बहनें मिल जाती हैं, इसलिये जानी-अनजानी, किसी भी जगह जाता हूँ, तो दो रोटी और रहने का स्थान मिल ही जाता है। वैसे, तीसरे-दरजे में सफर करता हूँ, तो भी, इसके लिये पैसे की जरूरत तो पड़ती ही है। यदि सरलता से व्यवस्था न हो, तो पैदल ही यात्रा कर लेता हूँ।"

थोड़ी-ही देर में उन्हें बहुत से परिचित मित्रों ने घेर लिया। एक ने पूछा – "महाराज ! आप तो बहुत आराम और मौज-शौक से रहते थे, इस प्रकार के जीवन से आपको कष्ट नहीं होता?" उत्तर मिला – "इस नये मोड़ से वस्तुत: मुझे वह सुख और शान्ति मिली है, जिसका शतांश भी इससे पहले जमींदारी और राजनीतिक जीवन में नहीं मिल पाया।" दूसरे मित्र ने पूछा – "क्या कभी आप अपने परिवार में जाते हैं?" वे बोले – "हाँ, कभी-कदास; जैसे दूसरे-घरों में ठहरता हूँ, वैसे ही एक-दो दिन वहाँ भी ठहर जाता हूँ।" महेन्द्र बाबू से हम हमेशा राजनीतिक बहस और हँसी-दिल्लगी किया करते थे। परन्तु मैंने देखा अब उनके प्रति सबके मन में श्रद्धा है।

उसी रात मुझे जयपुर जाना था। ऊपर की बर्थ मिली थी। सदा की भाँति भगवे रंग का खादी का कुर्ता पहने हुए था। रक्तचाप के उपचार के लिये मेरे मित्र श्री रामाश्रय दीक्षित द्वारा दी हुई रुद्राक्ष की माला भी गले में थी, जो संयोगवश बाहर से दिखाई दे रही थी। गार्ड टिकट चेक करता हुआ मेरे पास आया। बड़ी श्रद्धा से मेरी ओर देखा और मेरे लिये किसी तरह नीचेवाली बर्थ की व्यवस्था कर दी। मैंने सोचा – "गार्ड मेरे वेश से प्रभावित हुआ है, अत: क्यों न इस यात्रा में महेन्द्रजी का नुस्खा आजमाया जाय !"

जयपुर का काम थोड़ी देर में निपटाकर ढाई बजे वाली बस से आगरा के लिये रवाना हुआ। बस-कंडक्टर ने कहा – "बाबाजी ! रास्ते में मेंहदीपुर के हनुमानजी का मन्दिर पड़ता है। दर्शन जरूर कीजिये, तुरन्त परचा देते हैं।" इस स्थान का नाम बहुत दिनों से सुन रक्खा था। वहाँ पहुँचते-पहुँचते शाम के पाँच बज गये। मैं उतर पड़ा। मन्दिर मुख्य सड़क से दो-मील भीतर की ओर है। ताँगा लेकर वहाँ छह बजे पहुँचा। हलवाइयों, मोदियों की छोटी-छोटी दुकानें, दो चार धर्मशालायें और एक बेडौल-सा मन्दिर – यह था मेंहदीपुर ! भीतर जाकर देखा, ढोलक पर कीर्तन हो रहा है और तीन-चार औरतें उसकी ताल पर सिर धुन रही हैं, बीच-बीच में चिल्ला भी उठती हैं। मन्दिर के सम्बन्ध में यह बात कही जाती है कि बालाजी के प्रभाव से यहाँ प्रेत-बाधा मिट जाती है। खैर, मैं इस विवाद में पड़ना नहीं चाहता कि वास्तव में ही वे प्रेत-पीड़िता थीं या दर्शनार्थियों को प्रभावित करने के लिये पुजारियों द्वारा नियुक्त की गयी थीं।

गर्मी, सड़ाँध और दुकानों की मक्खियों से ऊब उठा और वापस मुख्य सड़क पर आ गया। सात बज रहे थे। घण्टे-भर खड़ा रहा, परन्तु आगरा जानेवाली कोई बस नहीं आई। पता चला, अब कोई बस मिलेगी नहीं। लाचार, सड़क के किनारे सामान रखकर पास के कुएँ की जगत पर बैठ गया। आठ बज गये, अँधेरा हो आया। सोचने लगा, शायद वापस मेंहदीपुर जाकर किसी धर्मशाला में ठहरना पड़ेगा। इतने में दूर से आती रोशनी दिखाई पड़ी। कुछ देर बाद देखा, एक ट्रक आ रही है। पास आने पर हाथ दिखा कर उसे रोका।

ड्राइवर ने पूछा – "कहाँ जाना है बाबाजी?" मैंने कहा – "आगरा।" इससे आगे कुछ और कह पाऊँ कि उसने रोब से अपने खलासी को मेरा सामान ट्रक पर चढ़ाने के लिये कहा। जब तक वह नीचे उतरे, आसपास खड़े भक्तों ने मेरा सामान उसे पकड़ा दिया। ड्राइवर ने ट्रक की छत की ओर इशारा करते हुये कहा – "आप ऊपर आसन रखें, कोई कष्ट न होगा।" उसकी आवाज में स्नेह, श्रद्धा और विनय पाकर मैं कुछ न कह सका। खलासी ने सोने के लिये अपना एक पुराना-सा गद्दा बिछा दिया। मैं उसी पर लेट गया।

ट्रक, चौड़ी सड़क के, दोनों ओर के ऊँचे-ऊँचे पेड़ों की झुकी डालियों के नीचे से चली जा रही थी। ऊपर खुला आसमान, झिलमिलाते तारे। खलासी नई उमर का था – फुर्तीला और तेज। अपने सुख-दु:ख सुनाने लगा – "पाँच-छह वर्षों से ट्रकों में घूमा करता हूँ। घर की गरीबी ने कठोर जीवन के लिये बाध्य किया। दो छोटे भाइयों और बहन की देखभाल माँ करती है। बाप शराबी था, पाँच बीघा जमीन थी, रेहन रखकर मर गया। ट्रक दौसा-ग्राम से सोप-स्टोन लादकर कानपुर जा रहा है। ट्रक-ड्राइवर को उस्ताद मानता हूँ। उसी ने खलासी में भरती किया। उस्तादजी की जुबान कड़वी है, मगर दिल मीठा। बहुत गालियाँ देता और मारता था, पर काम सिखाकर छोड़ा। साल, दो-साल हुये, ड्राइविंग का लाइसेंस भी दिला दिया। कभी-कभी स्टिअरिंग पकड़ा देता है, पर अभी पूरी तौर पर गाड़ी छोड़ता नहीं। वेतन के अलावा, अक्सर अपने पास से कुछ पैसे भी दे देता है।"

मैं सुनता जा रहा था, मगर थकान से आँखें झपक जाती थीं। कब गहरी नींद में सो गया, पता नहीं। एकाएक ड्राइवर की आवाज सुनाई पड़ी – "महाराज! भोजन करेंगे?" घड़ी देखी, रात के ग्यारह बजे थे। जंगल में रास्ते के किसी ढाबे के सामने ट्रक रुकी थी। हाथ-मुँह धोकर वही रक्खी मूँज की खटिया पर ले गया। थोड़ी देर बाद शुद्ध घी की छौंकी दाल, सुस्वादु रोटियाँ और अच्छा दही, थाल में रखकर ले आया। साथ में था अचार और प्याज, तृप्त होकर खाया। चलते समय पैसे देने लगा, तो ढाबेवाला संकोच करने लगा।

ट्रक करीब डेढ़-दो बजे रात को आगरे की सीमा चुंगी पर रुकी। सुनाई पड़ा – "ऊपर कौन है?" आवाज सुनते ही मैं जग पड़ा था। ड्राइवर ने बताया – "एक महात्मा हैं।" ट्रक स्टार्ट करते हुये उसने मुझसे पूछा – "कहाँ उतरेंगे महाराज?" मैंने कहा – "किसी भी धर्मशाला के पास छोड़ दो।" उसने अनुरोध किया – "आज रात क्यों न ट्रक पर ही आराम करें; सुबह जहाँ मर्जी चले जायँ।" मुझे नींद आ रही थी, उसकी बात मान ली और ट्रक पर ही सो रहा।

सुबह पाँच बजे उठा तो देखा कि शहर के बाहर एक पेट्रोल-पम्प पर दूसरी ट्रकों के साथ हमारी ट्रक भी खड़ी थी। ड्राइवर और खलासी मेरे आसपास गहरी नींद में थे। पास की झाड़ियों में शौचादि से निवृत्त होकर आया। उस समय तक वे जग चुके थे। ट्रक, जमुना के इस पार नौ-निहाई में रुकी थी। संयोग से सुबह की पाली पर जाता हुआ एक रिक्शा मिल गया। हाथ का झोला और अपना कार्ड देकर ड्राइवर से कहा – "कानपुर में, अपने ऑफिस में रखवा देना, मैं वहाँ से मँगवा लूँगा।" ड्राइवर ने आश्वस्त करते हुये कहा – "फिक्र न करें महाराज! आपका बक्सा परसों सुबह तक पहुँच जायेगा।" रिक्शे में बैठकर जब मैं बेलनगंज से गुजरने लगा, तो सोचा कि न तो ट्रक का नम्बर ही लिया और न ड्राइवर का नाम-पता पूछा। परन्तु मन ने कहा कि धोखा नहीं होगा।

आगरे में अपने साहित्यिक मित्र रावीजी के यहाँ सारा दिन बिताकर रात में जब स्टेशन पहुँचा, तो पता चला कि कानपुर जानेवाली पैसेंजर ट्रेन में फर्स्ट-क्लास की सारी सीटें पहले से ही भरी हैं। तीन दिन की लगातार यात्रा से थका हुआ था। मन में चिन्ता हुई। देखा, एक कम्पार्टमेंट में पति-पत्नी और तीन बच्चे थे। मैंने पूछा – "भाई! एक सीट आप मुझे देने की कृपा करेंगे?" उन्होंने बच्चों को एक सीट पर कर दिया और एक पूरी बर्थ मुझे दे दी। मैंने देखा – यहाँ भी मेरे वेश ने अपना चमत्कार दिखाया। जब कानपुर उतरा, तो पति-पत्नी और बच्चों ने भक्ति-भाव से मुझे प्रणाम किया।

घर पहुँचा तो दो-तीन घण्टे बाद 'अरोड़ा-ट्रान्सपोर्ट का फोन आया – "आप की अटैची हमारे ट्रक से अभी आई है, ड्राइवर यहीं बैठा है, आपको प्रणाम कह रहा है।" उसने यह भी पूछा – "क्या आप स्वयं ट्रक से आये थे या आपके यहाँ आनेवाले कोई महात्माजी?" मैंने जब उन्हें बताया कि मेंहदीपुर से आगरा तक मैं ही उनकी ट्रक पर आया हूँ, तब जाकर उन्हें विश्वास हुआ।

इस यात्रा में एक अभिनव अनुभव हुआ कि आज भी हमारे देश के जन-मानस में गंगा की पवित्रता और यमुना का प्रेम विद्यमान है। हजारों वर्षों से दोनों बहनों की पुण्य-भूमि पर बसे लोग, साधु-महात्माओं की सेवा करते आ रहे हैं। देश का सौभाग्य है कि यह परम्परा कुछ अंशों में आज भी अवशिष्ट है और यही कारण है कि बिना किसी सम्बल के बद्रीनाथ से कन्याकुमारी और द्वारका से सुदूर कामाख्या तक साधु-संन्यासी निश्चिन्ततापूर्वक यात्रायें कर लेते हैं।

❑❑❑

२००६-०७ के लिये कार्यकारिणी समिति की रिपोर्ट का सारांश

रामकृष्ण मिशन की ९८वीं वार्षिक साधारण सभा बेलूड़ मठ में १६ दिसम्बर, २००७ को अपराह्न के ३.३० बजे आयोजित की गयीं।

रामकृष्ण मिशन के १४वें अध्यक्ष स्वामी गहनानन्दजी महाराज के विगत ४ नबम्बर २००७ को हुये देहावसान को सदस्यों ने गहरे शोक के साथ याद किया। वे ९१ साल के थे। सुदीर्घ २७ साल तक उन्होंने कोलकाता स्थित सेवा प्रतिष्ठान अस्पताल केन्द्र में रोगी तथा पीड़ित लोगों के बीच काम किया। भारत और भारतेतर विभिन्न देशों का दौरा करते हुए उन्होंने वेदान्त और श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा देवी तथा स्वामी विवेकानन्द के सन्देश को फैलाने में सक्रिय भूमिका निभाई। उनका निधन संघ के लिये महान् क्षति है। स्वामी आत्मस्थानन्दजी महाराज संघ के १५वें अध्यक्ष नियुक्त हुये।

इस साल मिशन ने मध्यप्रदेश में भोपाल केन्द्र का और कर्नाटक स्थित बेलगाँव केन्द्र के एक उपशाखा केन्द्र का शुभारम्भ किया गया।

चिकित्सा क्षेत्र में इस वर्ष की निम्नलिखित गतिविधियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं – ईटानगर केन्द्र द्वारा चलमान-चक्षु-शल्यशाला, जम्मू आश्रम में चिकित्सा-केन्द्र और जर्मन कुष्ठ निवारण संस्थान के साथ मिलकर पश्चिम बंगाल स्थित कामारपुकुर केन्द्र द्वारा राष्ट्रीय एच.आइ.वी./एड्स नियंत्रण कार्यक्रम की शुरुआत।

शैक्षणिक क्षेत्र में इस वर्ष की निम्नलिखित गतिविधियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं – विवेकानन्द विश्वविद्यालय द्वारा – नरेन्द्रपुर, स्वामी विवेकानन्द पैतृकगृह और राँची (मोराबादी) स्थित शिक्षा-संस्थानों में स्नातकोत्तर कोर्स तथा अन्य कार्यक्रम, बेलुड़ स्थित सारदापीठ केन्द्र के विद्यामन्दिर कालेज द्वारा गणित व संस्कृत विषयों में स्नातकोत्तर कोर्स, कोयम्बटूर केन्द्र द्वारा IT Academy, online education जैसे विभिन्न कार्यक्रम और नरेन्द्रपुर के लोकशिक्षा परिषद द्वारा ११ प्रि-प्राइमरी शिक्षा केन्द्रों की शुरुआत।

ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के अन्तर्गत निम्नलिखित गतिविधियाँ विशेष उल्लेखनीय है, ईटानगर केन्द्र (अरुणाचल) द्वारा ग्रामीण स्वच्छता कार्यक्रम, जम्मू केन्द्र द्वारा जम्मू-कश्मीर भूकम्प आर्थिक पुर्नवास कार्यक्रम के अन्तर्गत नियंत्रण रेखा के पास के इलाकों में सिलाई प्रशिक्षण केन्द्रों की शुरुआत, राँची (मोराबादी) केन्द्र द्वारा फल-वृक्षारोपण, मसालों की खेती, बीज उत्पादन, झरनों के जल से सिंचाई, स्कूल छोड़ चुकीं ग्रामीण बालिकाओं के लिये आवासीय सेतुबन्धन-शिक्षा कार्यक्रम आदि, कोलकाता स्थित नरेन्द्रपुर केन्द्र के लोकशिक्षा परिषद द्वारा विभिन्न सामाजिक व आर्थिक विकास कार्यक्रम जैसे क्षमता-विकास, लाख का उत्पादन, अक्षण ऊर्जा प्रसार, कृत्रिम गर्भाधान और प्राणी स्वास्थ्य सुरक्षा जैसे विषयों में व्यावसायिक शिक्षण जैसे कार्यक्रमों की शुरुआत।

रामकृष्ण मठ के अन्तर्गत इस वर्ष की निम्नलिखित गतिविधियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं – गुजरात में बड़ोदरा केन्द्र की शुरुआत, राजकोट आश्रम द्वारा कच्छ जिले के धानेटी गाँव में एक हॉल और छात्रावास के भवन का उद्घाटन, पश्चिम बंगाल स्थित आँटपुर केन्द्र द्वारा एक चिकित्सालय-भवन का उद्घाटन, तमिलनाडु के मदुरै केन्द्र द्वारा नर्सरी और प्राइमरी स्कूल के विस्तारित भवन का उद्घाटन, पश्चिमबंगाल स्थित कूच बिहार केन्द्र द्वारा स्वरोजगार कार्यक्रम की शुरुआत।

भारत के बाहर दो केन्द्र खोले गये वे है; अमेरिका स्थित फ्लोरिडा राज्य में सेंट पीसर्टबर्ग में रामकृष्ण मठ का एक शाखा केन्द्र और दक्षिण अफ्रिका के डरबन में रामकृष्ण मिशन का एक शाखा केन्द्र।

इस वर्ष के दौरान मठ और मिशन ने ३.८७ करोड़ रुपये खर्च करके देश के कई भागों में विराट् स्तर पर राहत और पुनर्वास के कार्य किये, जिससे २०२७ गाँवों में रहनेवाले १ लाख ३० हजार परिवारों के ५ लाख ६७ हजार लोग लाभान्वित हुये।

निर्धन छात्रों को छात्रवृत्ति, वृद्ध, बीमार तथा असहाय लोगों को आर्थिक सहायता आदि **कल्याण-कार्यो में** ६.२५ करोड़ रुपये व्यय हुये।

१५ अस्पतालों एवं चलते-फिरते चिकित्सा-इकाइयों सहित १७३ चिकित्सा-केन्द्रों से ८५.३२ लाख से अर्थिक रोगियों को चिकित्सा-सेवा प्रदान की गई, जिसके तहत ६१.५५ करोड़ रुपये खर्च हुये।

हमारे शिक्षा-संस्थानों के द्वारा, बाल-विहार से लेकर स्नातकोत्तर स्तर तक, ३.३९ लाख विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान की गयी। शिक्षा-कार्य के संचालन में १११.६० करोड़ रुपये खर्च हुये।

१८.६२ करोड़ रुपयों की लागत पर कई ग्रामीण एवं आदिवासी विकास-योजनाओं का भी कार्यान्वयन किया गया।

इस अवसर पर अपने सदस्यों एवं मित्रों के प्रति उनके हार्दिक तथा निरन्तर सहयोग के लिये हम आन्तरिक धन्यवाद और कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

(स्वामी प्रभानन्द)
महासचिव

Website . WWW.belurmath.org

विवेकानन्द की याद में बनेगा शिक्षा-संस्थान

रायपुर – छत्तीसगढ़ में स्वामी विवेकानन्द की स्मृतियों को सँजोने के लिये रायपुर में अन्तरराष्ट्रीय स्तर का एक शिक्षा-संस्थान बनाने के प्रस्ताव पर सरकार गम्भीरतापूर्वक विचार कर रही है। १२ जनवरी को स्वामी विवेकानन्द जयन्ती पर देश-विदेश के विद्वानों की बैठक में इस शिक्षा संस्थान के लिये रूपरेखा बनाई जायगी। इसके लिये मुख्यमंत्री डॉ. रमन सिंह की अध्यक्षता में एक कमेटी बनाई गई है।

प्रदेश के वरिष्ठ अधिवक्ता श्री कनक तिवारी के प्रस्ताव पर गुरुवार को मुख्यमंत्री की मौजूदगी में एक बैठक हुई। इसमें श्री तिवारी के अलावा संस्कृति मंत्री श्री बृजमोहन अग्रवाल, उच्च शिक्षा मंत्री डॉ. कृष्णमूर्ति बाँधी, महापौर सुनील सोनी, मुख्य सचिव श्री शिवराज सिंह समेत संस्कृति तथा उच्च शिक्षा विभाग के सचिव उपस्थित थे। श्री तिवारी ने बताया कि स्वामी विवेकानन्द ने अपनी किशोरावस्था के ढाई साल रायपुर में व्यतीत किये ऐसी मान्यता है कि बैलगाड़ी से जबलपुर से रायपुर आते समय चिल्फी घाटी के पास उन्हें पहली बार ईश्वर की आध्यात्मिक अनुभूति हुई थी। उनकी इन स्मृतियों को यहाँ इस तरह संजोया जाय, ताकि विश्व के आध्यात्मिक, सांस्कृतिक एवं बौद्धिक मानचित्र पर छत्तीसगढ़ को एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त हो सके। श्री तिवारी ने कहा कि एक अन्तरराष्ट्रीय शिक्षा-संस्थान की स्थापना करके यह काम किया जा सकता है।

बैठक में सुझाव दिया गया कि संस्थान के पाठ्यक्रम में श्रीरामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द के सिद्धान्तों, सर्वधर्म-समभाव, प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान, वेदान्त, जनसेवा, कमजोर वर्गों के उत्थान, अन्तराष्ट्रीय सम्बन्ध, अन्तराष्ट्रीय विधि, व्यापार, मानव अधिकार, नि:शस्त्रीकरण, पर्यावरण सुधार, पोषण आहार व स्वास्थ्य आदि विषयों को शामिल किया जा सकता है। बैठक में श्रीरामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द के दर्शन तथा विचारों पर प्रकाशित साहित्य का एक पुस्तकालय विकसित करने का निर्णय लिया गया। शिक्षा संस्थान की रूपरेखा तय करने के लिये मुख्यमंत्री ने एक कमेटी बनाने का फैसला किया, जिसमें मंत्री सर्वश्री बृजमोहन अग्रवाल, श्री अजय चन्द्रकार, डॉ. कृष्णमूर्ति बाँधी, रामकृष्ण मिशन के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द, प्रदेश के मुख्य सचिव श्री शिवराज सिंह, मुख्यमंत्री के प्रमुख सचिव श्री विवेक ढांड सदस्य होंगे। मुख्यमंत्री के सचिव श्री के. सुब्रमणियम को कमेटी का समन्वयक बनाया गया है।

गिलगिट पाण्डुलिपियाँ राष्ट्रीय-निधि

जम्मू और कश्मीर राज्य के संग्रहालय में भिन्न-भिन्न भाषाओं और भिन्न-भिन्न विषयों जैसे साहित्य, भूगोल, धर्म, तन्त्र, ज्योतिष तथा औषधि की करीब १६,००० दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ मौजूद हैं। गिलगिट पाण्डुलिपियों के नाम से प्रसिद्ध ये ग्रन्थ भोज वृक्ष की छाल पर उत्कीर्ण हैं और ये बहुत अमूल्य हैं। ऐसा माना जाता है कि ये लगभग पाँचवी या छठी शताब्दी में लिखी हुई हैं। जम्मू और कश्मीर राज्य के पुरालेख तथा अजायबघर विभाग की सम्पदा – इन गिलगिट पाण्डुलिपियों की गणना विश्व के प्राचीनतम अभिलेखों में होती है। केन्द्र-सरकार ने अब इन्हें राष्ट्रीय निधि घोषित कर दिया है और ऋग्वेद के साथ ही इन्हें यूनेस्को की मेमोरी ऑफ वर्ल्ड रजिस्टर में जोड़ने के लिये सिफारिश की है।

गीता कण्ठस्थ कर लिया

ऋषिप्रदा केवल पाँच वर्ष की है, लेकिन वह भगवद् गीता के सभी ७०० श्लोकों को मुहजबानी सुना सकती है। बिहार में मधुबनी जिले के एक गाँव रैमा के निवासी उसके दादा डॉ. अवधेष प्रसाद चौधरी ने देखा कि वह संस्कृत श्लोकों को कण्ठस्थ करना और सुनाना पसन्द करती है, इसलिये उन्होंने उसे पूरी गीता पढ़ा दी। आश्चर्य की बात है कि उसने सभी श्लोकों को कण्ठस्थ भी कर लिया। वह भाषा की पूरी स्पष्टता के साथ श्लोकों का पाठ कर सकती है। पिता शत्रुमर्दन तथा माता सविता देवी का कहना है कि ऋषिप्रदा में यह प्रतिभा कम उम्र से ही दिखाई पड़ने लगी थी। संस्कृत के अन्य विद्वान और पण्डित उसके गीता पाठ को सुनकर स्तम्भित रह गये। ❑❑❑

एक अपील : विवेकानन्द विद्यार्थी भवन

रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर-४४० ०१२ (महाराष्ट्र)
फोन : (०७१२) २४३२६९०, २४२३४२२; फॅक्स : २४३७०४२
Email: rkmath_ngp@sancharnet.in

प्रिय महोदय,

नमस्कार तथा शुभ-कामनाएँ

आप जानते हैं कि नागपुर का रामकृष्ण मठ १९३२ ई. से ही कॉलेज के विद्यार्थियों के लिये एक छात्रावास चला रहा है। नागपुर विश्वविद्यालय से जुड़े विभिन्न कॉलेजों के विद्यार्थी इस छात्रावास में प्रवेश पाते हैं। मठ द्वारा कुछ निर्धन तथा योग्य छात्रों के निवास तथा भोजन का व्ययभार भी वहन किया जाता है। पाठ-चक्र तथा कक्षाओं के माध्यम से छात्रों के सर्वांगीण विकास पर विशेष ध्यान दिया जाता है, ताकि वे आदर्श नागरिक बनकर स्वामी विवेकानन्द के सपनों का भारत गढ़ सकें।

हम ५० निर्धन छात्रों के रहने हेतु एक नये विद्यार्थी-भवन का निर्माण आरम्भ कर चुके हैं। इस छात्रावास में एक प्रार्थनाकक्ष, एक सभागृह, रसोईघर तथा भोजनालय, तथा ग्रन्थालय (जिसमें दर्शन, धर्म, शिक्षा, संस्कृति, साहित्य, समाजशास्त्र, इतिहास, कला, विज्ञान, जीवनी, कृषि आदि विषयों पर संस्कृत, मराठी, हिन्दी, अंग्रेजी, बंगाली आदि) विभिन्न भाषाओं में और एक सी.डी. संग्रहालय भी होगा। इसमें छात्रावास के अन्तेवासियों के सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास हेतु कम्प्यूटर ज्ञान लैब, खेलकूद (इनडोर तथा आउटडोर), व्यायामशाला तथा आध्यात्मिकता एवं मानवीय मूल्यों पर बल देनेवाला प्रदर्शनी-कक्ष की भी श्रेष्ठ सुविधाएँ उपलब्ध होंगी।

निर्माणाधीन परियोजना का विस्तृत विवरण इस प्रकार है –

लम्बाई तथा चौड़ाई – १२१' x ६२' तलघर – २९' x ६०' सभागृह तथा व्यायामशाला – २९' x ६०'
ग्रन्थालय – २९' x ६०' रसोई तथा भोजनालय – २९' x ६०' कमरे – १९' x १३'

पहले इस परियोजना का व्यय १,६८,००,००० रुपये आकलित किया गया था, परन्तु निर्माण-सामग्रियों तथा मजूदूरी आदि के दर में काफी वृद्धि हो जाने के कारण इस पर लगभग २,२०,००,००० रुपये खर्च आने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त छात्रों के लिये उपरोक्त सभी सुविधाओं को उपलब्ध कराने हेतु भी लगभग ६४,००,००० रुपयों की आर्थिक सहायता की आवश्यकता होगी। **इस प्रकार इस परियोजना के लिये अनुमानतः कुल २,८४,००,००० (दो करोड़ चौरासी लाख) रुपयों की आवश्यकता होगी।**

इस तरह की तथा ऐसी बृहत् परियोजना को पूरा करने के लिये सभी लोगों की शुभ-कामनाओं तथा समर्थन की आवश्यकता होती है, अत: हमारा आपसे विनम्र अनुरोध है कि आप भी इस परियोजना में सहभागी बने और निर्धन छात्रों की मानवीय उन्नति के लिये उदारतापूर्वक दान करें। आपकी सहयोग-राशि को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार तथा सूचित किया जायेगा।

आप सभी पर श्रीरामकृष्ण का आशीर्वाद बना रहे।

स्वामी ब्रह्मस्थानन्द
अध्यक्ष

सूचना : दान की राशि **रामकृष्ण मठ, नागपुर** के नाम से डी.डी. या चेक द्वारा भेजी जा सकती है। यह दान आयकर विभाग द्वारा ८०-जी के अन्तर्गत छूट प्राप्त है। विदेशी मुद्रा में भी दान स्वीकार्य है। कृपया पत्र में 'विवेकानन्द विद्यार्थी भवन' का उल्लेख करें।